जनवाणी-प्रकाशन

मानवधर्म-मीमांसा

रचयिता :

पण्डित किशोरीदास वाजपेयी, शास्त्री

मानवधर्म-मीमांसा

◆

प्रथम संस्करण,

सवत् २००६ वि० ।

मूल्य २।) सवा दो रुपया

◆

प्रकाशक, मुद्रयिता और मुद्रक :

जनवाणी प्रेस एण्ड पब्लिकेशन्स लिमिटेड,

३६, वाराणसी घोष स्ट्रीट,

कलकत्ता—७

मानवधर्म-मीमांसा

कर्तव्यशास्त्र

एव

समाजशास्त्र

की

दृष्टि से

धर्म की तात्त्विक व्याख्या

◆

रचयिता :

ण्डित किशोरीदास वाजपेयी, शास्त्री,

कनखल (सयुक्त प्रान्त)

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥

धर्म एव हतो हन्ति, धर्मो रक्षति रक्षितः ।

जो हठि राखे धरम को, तेहि राखे करतार ।

आत्मानं सर्वभूतेषु, सर्वभूतानि चात्मनि ।
सम पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति ॥

भूमिका

'धर्म' शब्द से ही आजकल लोग चिढ़ने लगे हैं। कहते हैं—'हम धर्म-कर्म के चक्कर में नहीं पड़ते। धर्म के पचड़े ने ही दुनिया का नाश किया है!' दूसरे लोग 'धर्म' को इस संसार की चीज न मान कर केवल परलोक ही इसका सुफल समझते-मानते हैं। ऐसे लोग प्रायः ईश्वर-भक्ति को ही मुख्य धर्म समझते हैं। दिन-रात या तो ध्यान-समाधि में लगे रहना या उसकी बातें करना ही ऐसे लोग परम धर्म समझते हैं। किसीके दुख-दर्द की बात इनके सामने कोई करे, तो तुरन्त कह देते हैं—'उँह! हमें दुनिया से क्या मतलब!' ये लोग दुनिया से इतना मतलब जरूर रखते हैं कि खाने को बढ़िया मिल जाय और सुख-विलास की अन्य सामग्री भी उपलब्ध हो जाय। इसके लिए ये समाज का कुछ भी उपकार-सहयोग न मानकर भगवान के ही ऊपर सब छोड़ते हैं और कहते हैं कि उन्हीं की कृपा का सब फल है। उस कृपा को प्राप्त करने लिए भाँति-भाँति के साधन प्रचलित किये गये हैं। कोई ध्यान-समाधि लगाते हैं, कोई 'अनहद' नाद सुनते हुए 'सुन्न' समाधि लगाते हैं, कोई रतनसेन और पद्मावती की प्रेम-कहानी लिख-सुनकर, उनके दाम्पत्य-सुख में मानसिक क्रीडा करते हुए, उसीको परमात्म-जीवात्म-मिलन का प्रतीक समझते हुए, सूफियाना ढंग बरतते हैं, कोई श्रीकृष्ण के साथ गोपियों की रँगरेलियों की कल्पना करते और उसीको मोक्ष-साधन समझते-गाते हैं, कोई दिन में पाँच बार नमाज पढ़ कर भगवान् को रिझाते हैं और कोई रविवार के दिन पवित्र गृह में जा कर प्रार्थना द्वारा ही उसकी दया प्राप्त करना चाहते हैं। इस तरह एक भगवान को भाँति-भाँति से रिझाने का प्रयत्न करते हैं और इसीको वे मुख्य धर्म समझते हैं। ये सब भक्त लोग आपस में लड़ते भी हैं और एक-दूसरे का कत्ल भी करते हैं, केवल इसलिए कि दूसरा उनके ढंग से भगवान को प्रसन्न नहीं करता, किसी दूसरे ढंग से करता है! कभी-कभी हालाँकि

रूप से भी कत्ले-आम हुआ ; इसी 'धर्म' की रक्षा के लिए। पाश्चात्य देशों में ईसाइयों के ही दो वर्गों में बड़े-बड़े युद्ध हुए हैं और उनमें लाखों जन मारे गये हैं। किसी-किसी भक्त-समुदाय की 'धर्म-पुस्तक' मे लिख भी दिया गया है कि जो तुम्हारे मत को न माने, उसे अधर्मी समझो और कत्ल कर दो। ऐसा करने से तुम्हे पुण्य मिलेगा, जिससे स्वर्ग-सुख की प्राप्ति होगी! इसी तरह 'धर्म' के लिए लोगों ने अशान्ति फैलायी है! यही कारण है कि दूसरे लोग 'धर्म' से चिढने लगे हैं!

वस्तुत· ईश्वर-उपासना के जो ये भेद हैं, मत-मजहब या 'सम्प्रदाय' हैं, जो एक प्रकार के (आस्तिक-) दर्शन मे आते हैं। धर्मशास्त्र से इनका वैसा कोई सम्बन्ध नहीं है। धर्म तो लौकिक चीज है। कर्तव्यशास्त्र का ही नाम 'धर्मशास्त्र' है। 'तुम्हारा धर्म क्या है' और 'तुम्हारा कर्तव्य क्या है' एकार्थक वाक्य हैं। सत्य-अहिसा आदि जो नियम समाज-व्यवस्था चलाने के लिए बनाये गये, उन्हे ही 'धर्म' कहा गया। इस तरह मानव-मात्र का धर्म एक ही है। किस भी देश या समाज के लोग चोरी करनेको धर्म नहीं कहते! वे सब उपासना-भेद तो मत-मतान्तर हैं। जो नास्तिक है, ईश्वर की सत्ता को नहीं मानता, पर सत्य-अहिसा तथा दया-क्षमा आदि का समुचित पालन करता है, वह भी धर्मात्मा है! भगवान् की भक्ति करने वाला भी धर्मात्मा तभी होगा, जब सत्य-अहिसा आदि नियमो का पालन करता हो। अन्यथा, उसे अधर्मी और पापी ही कहेंगे। चाहे जितना राम-नाम का जप करे, 'शन्नोदेवीरभीष्टये' करे, नमाज पढे, प्रार्थना करे, पर यदि वह चोरी करता है, डाका डालता है, निरपराध जनो को सताता है, तो लोग उसे नीच, अधर्मी और पापी ही कहेंगे। इससे स्पष्ट है कि असल में धर्म क्या है। यह धर्म आचरणमे उतारना जो नहीं चाहते, जो दूसरों का गला काटते रहते हैं, वे भगवान् का नाम लेकर दुनिया को धोखा देना चाहते हैं! वे हल्ला इतना मचाते हैं कि भगवान् ऐसी भक्ति को ही लोग 'धर्म' समझने लगते हैं! फिर लोग यह भी

प्रचार करते हैं कि चाहे जितने पाप करो, हमारे मजहब में आ जाओ, तो भगवान तुम्हें तुरन्त माफ कर देंगे। इस तरह जब अपने पापों से डरे हुए लोग माफी के लिए इधर झुकते हैं, तो वह पाप की कमाई भी इधर ही भेंट कर देते हैं। मजे होते हैं। कौन जानता है, मरने के बाद क्या होगा! एक नशा तो है! जबतक जीते हैं, उस नशे में मस्त रहते हैं। अब हम नरक नहीं जा सकते, स्वर्ग जायेंगे इस ख्याल से वे नाचते रहते हैं। ऐसे ही लोग अधिक उपद्रव करते हैं; इसी तरह के लोगों ने 'धर्म' का नाम लेकर जो मदान्धता फैलायी, उससे समाज की शान्ति-समृद्धि को खतरा पैदा हुआ। इसी लिए दूसरे लोग 'धर्म' से चिढने लगे! परन्तु क्या यह ठीक है? हलवा बड़ी अच्छी चीज है। आपके मुंह में कोई कीचड़ भर दे और कहे कि 'यह हलवा है', तो आप किसी तरह अपना पिंड छुड़ावेंगे। उससे घृणा करेंगे। आप 'हलवा' नाम से ही चिढ़ जायेंगे। पर इसमें 'हलवा' का क्या दोष?

हिन्दू-जाति ने मानव-धर्म को ही 'धर्म' माना है। मानव-समाज की शान्ति-समृद्धि के लिए जो कर्तव्य हैं, उन्हें ही 'धर्म' कहा है। ईश्वर-जीव आदि से सम्बन्ध रखने वाले मत 'दर्शनशास्त्र' यहां कहे गये हैं। हमारे यहां अनेक दर्शन हैं, बीसों-सैकड़ों उनके अवान्तर-भेद हैं, पर दो भेद मुख्य हैं— १—आस्तिक और २—नास्तिक। हमारे छह मुख्य दर्शनों में भी कई ऐसे हैं, जो ईश्वर की सत्ता नहीं मानते। पर हिन्दू-जाति उन सभी दर्शनों में आध्यात्मिक रस लेती रही है। धर्म सब का एक—मानव-धर्म। और जगह यह बात नहीं। ईश्वर को न मानने वाला व्यक्ति अपने आप को 'मुसल्मान' या 'ईसाई' नहीं कह सकता। कारण, ये सब मजहब हैं, मत हैं, सम्प्रदाय हैं। हिन्दू जाति कोई 'सम्प्रदाय' नहीं है, जैसा कि लोग गलती से समझने लगे हैं। मांस खाने वाला भी हिन्दू और न खाने वाला भी। ईश्वर को मानने वाला भी हिन्दू और न मानने वाला भी। वेद को 'परम प्रमाणम्' मानने वाला भी हिन्दू और 'त्रयोवेदस्य कर्तारो

भण्डधूर्तनिशाचराः' कह कर वेद की निन्दा करने वाला भी हिन्दू ! कारण, 'हिन्दू' जाति है ! समाज को अहित पहुचाये विना कोई भी व्यक्तिगत जीवन तथा विश्वास में स्वतन्त्र है। इसी लिए हिन्दू-धर्म को 'महान्' कहा गया है, क्योंकि यह मानव-धर्म है, और देशकाल तथा परिस्थिनि के अनुसार इसमें परिवर्तन-परिवर्द्धन की छूट है। कहना चाहिए, हमारे पूर्वजों ने धर्म की पूर्ण व्याख्या की है। इसे समझ न सकने के कारण ही लोग कुछ का कुछ कहने-समझने लगे हैं। धर्म के नाम पर अधर्म चलाया गया ! यही घृणा का बीज ! इसे स्पष्ट करने की जरूरत है !

आज चर्चा है कि सरकारी शिक्षा-सस्थाओं मे धार्मिक शिक्षा जारी की जाय, या नहीं ! लोग कहते हैं, किस धर्म की शिक्षा जारी की जाय। हम कहते हैं, मानव-धर्म की शिक्षा दी जाय, किसी मत-मजहब की नहीं। इसी बात को स्पष्ट करने के लिए यह प्रयास है।

इस पुस्तक के तृतीय अध्याय मे यज्ञ-सम्बन्धी चर्चा है। उसमें मेरी एक नयी उद्भावना है, जो विद्वानों के पढने योग्य चीज है। इससे धर्म-सम्बन्धी एक बडा अन्धकार तो दूर होगा ही, काव्य तथा साहित्यशास्त्र में फैली हुई एक भ्रान्त धारणा भी समाप्त होगी। मेरा विचार है, इस यज्ञ-सम्बन्धी उद्भावना को अलग निबन्ध के रूप मे प्रकाशित कराया जाय और इसका अगरेजी अनुवाद छपवा कर पाश्चात्य विद्वानों के पास भेजा जाय, जो भारतीय सस्कृति तथा सस्कृत-साहित्य की शोध का काम करते हैं। मुझे विश्वास है, मेरे विचार से उन्हें सहमत होना पड़ेगा, और उनकी यह गलत विचार-धारा इससे बदल जायगी कि वेद-युग के लोग आग-पानी आदि प्राकृतिक तत्त्वों की पूजा करते थे।

'मानव धर्म-मीमासा' देखकर मेरे पुत्र (चि० मधुसूदन) के मन में कुछ विचार उठे। उसने कुछ उपनिषद्-वाक्यों का सग्रह किया और उनको

व्याख्या की। दो परिशिष्ट भी उसने धर्म-विषयक लिखे और यह सब पुस्तक में देने की अनुमति मुझ से माँगी। उपनिषद्-वाक्य देने तो मैंने आवश्यक नहीं समझे, क्योंकि वह सब कुछ पुस्तक में आ चुका है। शेष दोनों परिशिष्टों में उसने कुछ देशी-विदेशी विचारकों के उत्कृष्ट विचारों का अध्ययन किया है। मैंने उन्हें परिशिष्ट-रूप से नहीं, अपितु पुस्तक के प्रारम्भ में ही, भूमिका का परिशिष्ट बना कर, छापने की सलाह दे दी। ये उसके अपने विचार हैं, अपनी विचार-सरणि है। परन्तु, उसके विचार मानव-धर्म-मीमांसा से मेल खाते हैं। इस भूमिका-परिशिष्ट से भी धर्म के सम्बन्ध में बहुत कुछ जानकारी मिलेगी।

कनखल,
विजयादशमी, २००५। } किशोरीदास वाजपेयी

भूमिका-परिशिष्ट

धर्म और उसकी मीमांसा

श्री मधुसूदन वाजपेयी

तुम्हारा दैनिक जीवन ही तुम्हारा मन्दिर और तुम्हारा धर्म है।

और, अगर तुम ईश्वर को जानना चाहते हो, तो पहेलियां हल करनेवाले मत बनो।

अपितु, अपने चारो ओर देखो : तुम उसे अपने बच्चों के साथ खेलते पाओगे।

—खलील जिब्रान

"मानवधर्म-मीमांसा" के धर्म विवेचन को पढ कर पाठक देखेंगे कि हमारे देश में आजकल 'धर्म' शब्द का प्रयोग मत-मजहब के लिए जो होने लगा है, वह गलत है, त्याज्य है। हमारे यहाँ तो धर्म को अध्यात्म-शास्त्र (ईश्वर-शास्त्र, परलोक-शास्त्र, आत्म-शास्त्र आदि) से भी एक अलग विधान माना गया है, इसी लोक की चीज समझा गया है। यही कारण है कि मत-मजहब के रूप में हिन्दू-धर्म की परिभाषा करने के प्रयत्न में लोग असफल रहते है। अपनी "हिन्दुस्तान की कहानी" में पण्डित नेहरू लिखते हैं कि हिन्दू-धर्म का कोई सर्वमान्य सिद्धान्त हो सकता है, तो केवल 'सत्य', क्योंकि 'अहिसा' भी हमारे यहाँ कोई सर्वमान्य सिद्धान्त नहीं है। लेकिन, आप स्वय कहते हैं, यह कोई परिभाषा नहीं हुई।

और मत-मजहब के रूप में हिन्दू-धर्म की परिभाषा हो भी नही सकती। वस्तुत. 'हिन्दू' शब्द धर्मवाचक नही, जाति-वाचक है। पारसी धर्म के प्रचारकाल में पारसी लोग 'सप्तसिन्धु' (पञ्जाब) को 'हस

हिन्दु' कहते थे ; बाद में इसे ही 'हिन्दु' और बाद में 'हिन्द' कहने लगे और यहाँ के निवासियों को 'हैन्दव' से 'हैन्दू' और फिर 'हिन्दू'। भारतवर्ष के सभी प्रान्तों से पश्चिम की ओर जाने का एकमात्र मार्ग यही प्रदेश ("सप्तसिन्धु" या "हसहिन्दु") था। अतः इस प्रदेश से होकर जितने भारतीय संस्कृति के मनुष्य पश्चिमी देशों (विदेशों) में जाते थे सभी "हिन्दू" कहलाते थे। प्रान्त का विचार विदेश के लोग क्यों करने लगे क्योंकि जनसाधारण के लिए यह पूरब का प्रदेश—समग्र भारत—'हिन्द' ही था। इस तरह भारत के पश्चिमी पड़ोसी और उनसे सम्बन्ध रखनेवाले सभी देश भारतवर्ष को 'हिन्द' और यहाँ के निवासियों को 'हिन्दू' कहने लगे। यूनानी में 'ह'कार का लोप होकर "इन्द" और "इन्दू" शब्द प्रचलित हुए। अंग्रेजों ने उसे ही "इन्ड", "इण्डो", "इण्डिया" आदि कर दिया।*

द्रविड आर्य, शक, हूण आदि अनेक जातियाँ इस देश में आयीं। सभी यहाँ की संस्कृति में घुलमिल कर 'हिन्दू' समझी-मानी गयीं। आदि-द्रविड अब्राह्मणों में से अधिकांश अपने को अनार्य समझते हैं, परन्तु हिन्दू कहलाने में उन्हें कोई संकोच नहीं। घोर नास्तिक भी, जो संसार के किसी आस्तिक मत के अनुयायी नहीं हैं, अपने को 'हिन्दू' कहते हैं, क्योंकि वे इस शब्द को एक जाति का वाचक मानते हैं। धर्म से इसका कोई सम्बन्ध नहीं समझते। गोआ में ऐसे ईसाई मौजूद हैं, जो 'हिन्दू' शब्द का व्यवहार तो अपने लिए नहीं करते, परन्तु हिन्दुओं के ऐसे कोई देवता नहीं, जिनकी पूजा वे प्रभु ईसु ख्रीष्ट के साथ न करते हों। ऐसे मुसलमान भी हैं, जो गोमांस से बचते हैं, हिन्दू त्योहार मानते हैं और देवी-देवता के स्थान में जा कर मुण्डन-संस्कार करते हैं। अघोरपंथी औघर से लेकर चौकासम्प्रदाय वाले आचारवान ब्राह्मण तक हिन्दू हैं, जिनके यहाँ किसी ने दूर से, तो रसोई अशुद्ध हो जाय। जिन अछूतों की छाया से

* स्व० श्री रामदास गौड़ 'हिन्दुत्व'

कई 'ब्राह्मण' बचते हैं, उन अछूतों को भी 'हिन्दू' होने का गर्व है। वर्णाश्रम धर्मी भी हिन्दू हैं और वर्णाश्रम के न माननेवाले भी हिन्दू है। कन्धार और बुखारे से आकर त्रिवेणी में स्नान करके और अक्षयवट की पूजा करके अपने को कृतार्थ समझनेवाले भी हिन्दू हैं और ऐसे भी हिन्दू है, जो प्रयाग और काशी में रहते हुए इन कामों का विरोध करते है, और अपने को 'हिन्दू' किसी से कम नहीं समझते। इतनी बात पर तो सभी सहमत हैं कि 'हिन्दू' शब्द से किसी विशेष सम्प्रदाय का बोध नही होता। भारत के बाहर तो खास मक्के-मदीने में भारतीय मुसलमान भी 'हिन्दू' या 'हिन्दी' कहलाता है। इसी प्रकार अमेरिका में हर एक भारतीय 'हिन्दू' कहलाता है, चाहे वह वैष्णव हो, शैव हो, आर्य-समाजी हो, मुसलमान हो, सिख हो या ईसाई हो।*

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'हिन्दू' शब्द से किसी सम्प्रदाय किंवा मत-मजहब का बोध नही होता। यही कारण है कि कोई भी हिन्दू बलपूर्वक अपने मत का प्रचार नही करता, वह किसी को खदेडता भी नही।

तो 'हिन्दुत्व' है क्या ?—वह है हिन्द की संस्कृति। हिन्दुओं से मिल कर कोई भी व्यक्ति इनमें एकरूप हो सकता है, बशर्ते कि वह हिन्द की संस्कृति को अपना ले। हिन्द की संस्कृति अक्षुण्ण रहनी चाहिए। किसी व्यक्ति के विचार चाहे जैसे हों। वह प्रचार चाहे जिस मत का करता हो, लेकिन उसका आचार इस राष्ट्र की संस्कृति के अनुरूप ही होना चाहिए। इस देश की संस्कृति को मानते हुए यदि कोई मजहब से ईसाई या मुसलमान भी होगा, तो हिन्दू-समाज उसका बहिष्कार न करेगा। इसके विपरीत, जिसने हिन्दू-संस्कृति का त्याग [illegible] है, उसके विचार चाहे जितने आस्तिक हों, पर हिन्दू उससे मिलते हुए झिझकता है, और समाज उसका बहिष्कार करने के लिए तैयार

---

* स्व० श्री रामदास गौड · हिन्दुत्व

जाता है। हिन्दू होनेके लिए इसीलिए हिन्दू-संस्कृति (हिन्दू की संस्कृति) ही मुख्य है।*

इस दृष्टि से भारत में धर्म (कर्तव्य) और संस्कृति का अटूट सम्बन्ध रहा है। ("अपनी संस्कृति की उपासना हमारा धर्म है"—मानवधर्म-मीमांसा)। सिक्खों में, जैनों में, भारतीय बौद्धों में, उन ब्रह्मसमाजियों में, जो विदेशी नहीं हो गये हैं, उन आर्यसमाजियों में जो हिन्दू-समाज से बहिष्कृत नहीं हुए हैं, उन कबीर-पन्थियों, नानकशाहियों और राधास्वामियों में, जो श्रुति-स्मृति नहीं मानते, यह संस्कृति विद्यमान है। यही हिन्दू-संस्कृति है जो हिन्दू-समाज की उन्नायक है। ⊛

६

'हिन्दुत्व' की इस परिभाषा को न समझने का ही यह फल है कि पिछले दिनों में जो राष्ट्र-विभाजन हुआ, राष्ट्र विप्लव हुआ, उसका कारण लोग सम्प्रदाय-भेद समझते-समझाते हैं। पर 'मानवधर्म-मीमांसा' के लेखक उनसे सहमत नहीं, उनका कहना है कि "राष्ट्रविप्लव धर्मभेद (सम्प्रदायभेद) से नहीं, संस्कृति-भेद से हुआ।" "हम किसी भी सम्प्रदाय के हों, सब भारतीय हैं। भारतीय संस्कृति की उपासना हमारा धर्म है। इस देश के लोग पारलौकिक बातों में ईसाई या इस्लामी मत ग्रहण करके सम्प्रदायतः ईसाई या मुसलमान हो गये, पर भारतीयता तो उनकी नष्ट न होगी न? किसी भी मत को ग्रहण कर के भारतीय ही रहेंगे। इस लिए, पारलौकिक उपासना आदि में भेद रखते हुए भी वे सब संस्कृति से एक हैं। मुसलमान हो जाने से कोई अरबी या ईरानी नहीं हो जाता। संस्कृति हमारा जीवन है। हम इसे छोड़ नहीं सकते, हमसे यह छूट नहीं सकती।'

इस प्रकार राष्ट्रीय एकता के लिए एक नवीन सूत्र दिया है, 'मानवधर्म-

---

* स्व० श्री रामदास गौड़ : हिन्दुत्व

कई 'ब्राह्मण' बचते हैं, उन अछूतों को भी 'हिन्दू' होने का गर्व है। वर्णाश्रम धर्मी भी हिन्दू हैं और वर्णाश्रम के न माननेवाले भी हिन्दू है। कन्धार और बुखारे से आकर त्रिवेणी में स्नान करके और अक्षयवट की पूजा करके अपने को कृतार्थ समझनेवाले भी हिन्दू हैं और ऐसे भी हिन्दू हैं, जो प्रयाग और काशी में रहते हुए इन कामों का विरोध करते है, और अपने को 'हिन्दू' किसी से कम नही समझते। इतनी बात पर तो सभी सहमत हैं कि 'हिन्दू' शब्द से किसी विशेष सम्प्रदाय का बोध नही होता। भारत के बाहर तो खास मक्के-मदीने में भारतीय मुसलमान भी 'हिन्दू' या 'हिन्दी' लहलाता है। इसी प्रकार अमेरिका मे हर एक भारतीय 'हिन्दू' कहलाता है, चाहे वह वैष्णव हो, शैव हो, आर्य-समाजी हो, मुसलमान हो, सिख हो या ईसाई हो।*

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'हिन्दू' शब्द से किसी सम्प्रदाय किंवा मत-मजहब का बोध नहीं होता। यही कारण है कि कोई भी हिन्दू बलपूर्वक अपने मत का प्रचार नही करता, वह किसी को खदेड़ता भी नही।

तो 'हिन्दुत्व' है क्या ?—वह है हिन्द की संस्कृति। हिन्दुओं से मिल कर कोई भी व्यक्ति इनमें एकरूप हो सकता है, बशर्ते कि वह हिन्द की संस्कृति को अपना ले। हिन्द की संस्कृति अक्षुण्ण रहनी चाहिए। किसी व्यक्ति के विचार चाहे जैसे हों। वह प्रचार चाहे जिस मत का करता हो, लेकिन उसका आचार इस राष्ट्र की संस्कृति के अनुरूप ही होना चाहिए। इस देश की संस्कृति को मानते हुए यदि कोई मजहब से ईसाई या मुसलमान भी होगा, तो हिन्दू-समाज उसका बहिष्कार न करेगा। इसके विपरीत, जिसने हिन्दू-संस्कृति का त्याग किया है, उसके विचार चाहे जितने आस्तिक हों, पर हिन्दू उससे मिलते हुए झिझकता है, और समाज उसका बहिष्कार करने के लिए तैयार

* स्व० श्री रामदास गौड़ : हिन्दुत्व

रहता है। हिन्दू होनेके लिए इसीलिए हिन्दू-सस्कृति (हिन्द की सस्कृति) ही मुख्य है।*

इस दृष्टि से भारत में धर्म (कर्तव्य) और सस्कृति का अटूट सम्बन्ध रहा है। ("अपनी सस्कृति की उपासना हमारा धर्म है"—मानवधर्म-मीमांसा)। सिक्खों में, जैनों में, भारतीय बौद्धों में, उन ब्रह्मसमाजियो में, जो विदेशी नही हो गये हैं, उन आगाखानियों में जो हिन्दू-समाज से बहिष्कृत नहीं हुए है, उन कबीर-पन्थियों, नानकशाहियों और राधास्वामियों में, जो श्रुति-स्मृति नही मानते, यह सस्कृति विद्यमान है। यही हिन्दू-सस्कृति है जो हिन्दू-समाज की उन्नायक है। *

६

'हिन्दुत्व' की इस परिभाषा को न समझने का ही यह फल है कि पिछले दिनों में जो राष्ट्र-विभाजन हुआ, राष्ट्र विप्लव हुआ, उसका कारण लोग सम्प्रदाय-भेद समझते-समझाते है। पर 'मानवधर्म-मीमांसा' के लेखक उनसे सहमत नहीं, उनका कहना है कि "राष्ट्रविप्लव धर्मभेद (सम्प्रदायभेद) से नहीं, सस्कृति-भेद से हुआ।" "हम किसी भी सम्प्रदाय के हों, सब भारतीय है। भारतीय सस्कृति की उपासना हमारा धर्म है। इस देश के लोग पारलौकिक बातों में ईसाई या इस्लामी मत ग्रहण करके सम्प्रदायत ईसाई या मुसलमान हो गये; पर भारतीयता तो उनकी नष्ट न होगी न? किसी भी मत को ग्रहण कर वे भारतीय ही रहेंगे। इस लिए, पारलौकिक उपासना आदि मे भेद रखते हुए भी वे सब सस्कृति से एक है। मुसलमान हो जाने से कोई अरबी या ईरानी नहीं हो जाता! सस्कृति हमारा जीवन है। हम इसे छोड नहीं सकते, हमसे यह छूट नही सकती।"

इस प्रकार राष्ट्रीय एकता के लिए एक नवीन सूत्र दिया है, 'मानवधर्म-

---

* स्व० श्री रामदास गौड, हिन्दुत्व

मीमांसा' के लेखक ने। वह है सस्कृति की एकता। हिन्द का विभाजन तो तभी हो गया था, जब यहाँ सस्कृति-भेद पैदा किया गया, क्योंकि राष्ट्रीयता है एक ही शरीरी के अग होने की चेतना, जो कि सांस्कृतिक एकता से उत्पन्न होती है। स्जिविक का कहना है—"यदि किसी राजनीतिक समाज के सदस्यों मे एक ही सरकार के आज्ञानुवर्ती होने के अतिरिक्त उन्हें पारस्परिक ऐक्य के सूत्र में बाँधने के निमित्त और कोई चेतना विद्यमान न हो, तो उस समाज की स्थिति सतोपजनक तो होगी ही नही, उसका स्थायित्व भी अपेक्षाकृत कम ही होगा। ऐसे समाज में समय-समय पर सम्भावित बाहरी युद्धों और भीतरी विघटनकारी आघातों का सामना करने के लिए आवश्यक सगठन-शक्ति का प्राय अभाव ही होगा। फलत हमें मानना पडता है कि एक राज्य के सदस्यों को परस्पर आबद्ध रखने के लिए कुछ और बन्धनों का होना आवश्यक है, जिनका समावेश हम 'राष्ट्रीयता' में कर सकते है।"

स्टालिन के अनुसार "राष्ट्र वह लोकसमुदाय है जो ऐतिहासिक दृष्टि से विकसित और स्थायी होने के साथ सर्वसामान्य भाषा, भूभाग, आर्थिक जीवन और सस्कृति में परिलक्षित होने वाली विशेष मनोरचना से युक्त हो।"

भाषा और ऐतिहासिक परम्परा का अन्तर्भाव 'सस्कृति' में कर के उपर्युक्त परिभाषा का सक्षेप यों हो जाता है—"राष्ट्र वह लोक-समुदाय है, जो सर्वसामान्य भूभाग, आर्थिक जीवन और सस्कृति में परिलक्षित होने वाली विशेष मनोरचना से युक्त हो।"

कहने की जरूरत नही कि भूभाग और आर्थिक जीवन की विशिष्टता से ही सस्कृति की विशिष्टता पैदा होगी।

और भूभाग की विशिष्टता को तो राष्ट्रविभाजन के समर्थक श्री एफ० के० खाँ दुर्रानी ने स्पष्ट स्वीकार किया है—"मैं डाक्टर बेनीप्रसाद के इस कथन से सहमत हूँ कि ससार में ऐसा कोई भी देश नही है;

और पहाड़ों के कारण भारत जैसा अखण्ड रूप प्राप्त हो।"
की इस अखण्डता के ही परिणामस्वरूप भारत में सांस्कृतिक
। रहन-सहन, खान-पान, तीज-त्यौहार, भाषा-साहित्य,
अन्यान्य सस्कार आदि में आज भी सम्पूर्ण भारत अनेक
वेधियों को मानता है, जो उसे एक सूत्र में बाँधे हुए हैं।
देशव्यापी तीर्थ इसमें बहुत सहायक हुए। हमारे पुराण
देश के गीत गा रहे हैं—

गायन्ति देवाः किल गीतकानि
धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे।
स्वर्गापवर्गास्य च हेतुभूते
भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्॥

राष्ट्रीयता, इस सस्कृति को यदि हम अलग कर दे, तो हिन्दू-
द्ध मानवधर्म के रूप मे रह जाता है। "जिसे अब, उसकी
वस्था में, 'हिन्दू-धर्म' कहते है, उसका उचित नाम, सस्कृत-
अवस्था में, 'मानव-धर्म' था, और होना चाहिए।"*

रतीय धर्मग्रन्थों में धर्म का जो स्वरूप वर्णित है, उस रूप में
कोई भी इनकार नहीं कर सकता। कम्यूनिस्टों को सब से
र्म-विद्वेषी माना जाता है, पर किस अर्थ मे वे आचार-नियम से
करते हैं? इसी अर्थ में न कि ये आचार-नियम भगवान के
है?† पर यहाँ, भारत मे, आचार-नियम को भगवान् का नही,
का विधान माना गया है, मनुष्य के लिए।

ा है कि नई अवस्था में नया धर्म प्रतिपादित करने की आवश्यकता
र, इतिहास-पुराण और सब अगोपांगो से परिबृंहित वेद को

डा० भगवानदास समन्वय

लेनिन • धर्म पर

सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम्।
तद्ध्यग्र्यं सर्वविद्यानाम् प्राप्यते ह्यमृतं ततः॥

—मनु

सब में समदृष्टि रखना, सब को आत्मवत देखना, यही परम धर्म है; क्योंकि अमरत्व इसी से मिलता है, यही आत्मयज्ञ है, जिससे स्वाराज्य (दिव्य शान्ति) सम्भव है। सब प्राणियों में व्याप्त इस आत्मा को ही धर्मज्ञ लोग परम देवता मानते हैं और इसके ज्ञान को ही परमतीर्थ मानते हैं। ऐसे समदर्शी जनसेवियों के निवास से ही तीर्थों में तीर्थत्व आता है [—भागवत]।

यह समदृष्टि रख कर अपने कर्तव्य-कर्म करना ही धर्म है। गीता में भगवान् कृष्ण ने कहा है कि यज्ञ, दान, तप आदि धर्मों का त्याग नहीं करना चाहिए, उन्हें करना ही चाहिए। और श्रीमद्विष्णुपुराण में भगवान् विष्णु कहते हैं कि अपना काम छोड़ कर जो लोग "कृष्ण कृष्ण" की रट लगाये रहते हैं, वे धर्म-कर्म से विमुख लोग हरि के द्वेषी और मूर्ख हैं; क्योंकि श्रीहरि का जन्म इसलिए नहीं हुआ कि लोग उनका नाम रटा करें, बल्कि इसलिए कि धर्मकी संस्थापना हो, लोग धर्माचरण में प्रवृत्त हों।

और भगवान् व्यास के शब्दों में धर्म का सार है—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं, श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

[म० भा०, शान्तिपर्व]

धर्म की इस भारतीय परिभाषा को ही आधुनिक तत्त्ववेत्ताओं ने ग्रहण किया है। प्रोफेसर जान डेवी की राय में "वही प्रवृत्ति स्वरूप में धार्मिक है, जो व्यक्तिगत होने की आशंका होने पर भी, और बाधाओं के विरोध में भी, किसी आदर्श लक्ष्य को पाने के लिए जारी रखी जाती है, और जिसके पीछे यह विश्वास हो कि वह सार्वजनिक और स्थायी उपयोगिता वाली है।" इसी प्रकार फ्रेंच मनीषी रोमाँ रोलाँ अपने "श्री

रामकृष्ण परमहंस" के जीवनचरित्र में लिखते हैं "...बहुत से व्यक्ति ऐसे होते हैं, जो सभी तरह के साम्प्रदायिक विश्वासों से दूर रहते हैं, लेकिन वास्तव में उनमें एक अतिबौद्धिक चेतना व्याप्त रहती है, जिसे वे समाजवाद, साम्यवाद, मानवहितवाद, राष्ट्रवाद या बुद्धिवाद कहते हैं। विचार का लक्ष्य क्या है, इसकी अपेक्षा विचार किस कोटि का है, यह देख कर हम निर्णय कर सकते हैं कि वह धर्मप्रसू है या नहीं। अगर वह विचार, हर तरह की कठिनाई सह कर, एकनिष्ठ लगन और हर तरह के बलिदान की तैयारी के साथ, सत्य की खोज की तरफ निर्भयतापूर्वक ले जाता है, तो मैं उसे धर्म ही कहूँगा। क्योंकि धर्म के भीतर यह विश्वास सम्मिलित है कि मानवीय पुरुषार्थ का ध्येय वर्तमान समाज के जीवन से ऊँचा, बल्कि सारे मानव-समाज के जीवन से भी ऊँचा है। नास्तिकता भी, जब वह सर्वांशतः सच्ची बलवती प्रकृतियों से निकलती है, और जब वह निर्बलता की नहीं, बल्कि शक्ति की मूर्त रूप होती है, तो वह भी धार्मिक आत्मा की महान् सेना के प्रयाण में शामिल हो जाती है।"

धर्म की यही परिभाषा हमारे देश में की गयी है। जो समाज का धारण करे, जिससे अभ्युदय और कल्याण हो, वह प्रवृत्ति धर्म है—

धारणाद्धर्म इत्याहुः।
यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः॥

धर्म का मर्म

सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह आदि किसी एक सामान्य धर्मनियम को ही सम्पूर्ण महत्त्व दे डालनेवाले साधक धर्म के विषय में प्रमाण नहीं माने जा सकते। भगवान् मनु, वेदव्यास और श्रीकृष्ण प्रभृति जिन धर्म-वक्ताओं को भारतीयों ने अपना आदर्श माना है, उन्होंने स्पष्ट ही आततायी-वध को धर्म बताया है और सृष्टि का क्रम जारी रखने के लिए उचित मर्यादा के भीतर काम एवं क्रोध की अत्यन्त आवश्यकता बतायी है। सत्य की परिभाषा भी उन्होंने यह की है कि जो कुछ अत्यन्त

लोकहितकारक है, वही सत्य है। आधुनिक भारतीय मनीषियों में लोकमान्य तिलक ने यह सब विवेचन अपने 'गीता-रहस्य' में बहुत उत्तम रीति से किया है। यह सब विवेचन करते हुए लोकमान्य कहते हैं :—

"काम, क्रोध, लोभ आदि प्रबल मनोवृत्तियों का उचित रीति से निग्रह करना ही सब सुधारों का प्रधान उद्देश्य है। उनका नाश करना कोई सुधार नही कहा जा सकता, क्योंकि भागवत (११।१।१५) में कहा है—

लोके व्यवायामिषमद्यसेवा
नित्यास्ति जन्तोर्नहि तत्र चोदना।
व्यवस्थितिस्तेषु विवाहयज्ञ-
सुराग्रहैरासु निवृत्तिरिष्टा ॥

—इस दुनिया में किसी से यह कहना नही पडता कि तुम मैथुन, मांस और मदिरा का सेवन करो, ये तीनो मनुष्य को स्वभाव से ही पसन्द हैं। इन तीनो की कुछ व्यवस्था कर देने के लिए, अर्थात् इनके उपयोग को कुछ मर्यादित करके व्यवस्थित कर देने के लिए, शास्त्रकारों ने अनुक्रम से विवाह, सोमयाग और सौत्रायणी यज्ञ की योजना की है। परन्तु तिस पर भी निवृत्ति, अर्थात् निष्काम आचरण, इष्ट है। यहाँ यह बात ध्यान मे रखने योग्य है कि 'निवृत्ति' शब्द का सम्बन्ध जब पञ्चम्यन्त पद के साथ होता है, तब उसका अर्थ अमुक वस्तु से निवृत्ति, अर्थात् अमुक वस्तु का सर्वथा त्याग, हुआ करता है, तो भी कर्मयोग में 'निवृत्ति' विशेषण कर्म ही के लिए उपयुक्त (प्रयुक्त) हुआ है। इसलिए निवृत्तिकर्म का अर्थ निष्काम बुद्धि से किया जानेवाला कर्म होता है; यही अर्थ मनुस्मृति और भागवत पुराण मे स्पष्ट रूप से पाया जाता है। (मनु० १२।८९ ॥ भागवत ११।१०।१ तथा ७।१५।४७)। सारांश यह है कि नीति के सामान्य नियमों से ही सदा काम नही चलता

नीतिशास्त्र (किंवा धर्मशास्त्र) के प्रधान नियम 'अहिंसा में भी कर्तव्या-कर्तव्य का सूक्ष्म विचार करना पड़ता है। यदि सब लोग हिंसा छोड़ दे, तो क्षात्रधर्म कहाँ और कैसे रहेगा? यदि क्षात्रधर्म नष्ट हो जाय, तो प्रजा की रक्षा कैसे होगी?"

रूसी ऋषि लिओ टालसटाय का धर्मविवेचन

वह धर्म जो मनुष्य को स्वतन्त्र बनाता है और जो हमारे समय की सारी मांगो को पूरा करता है, अब भी वर्तमान है तथा सब मनुष्यों पर प्रकट है, और गुप्त रूप में ससार के लोगों के हृदयों में विद्यमान है। इसलिये इस धर्म को सब लोग समझ जाय और इसके अनुसार सब काम करे। शिक्षित समाज के लोग, जो अशिक्षितों के नेता (मार्ग दर्शक) है, यह समझ लें कि मनुष्य के लिये धर्म एक आवश्यक वस्तु है। बिना धर्म के मनुष्य अच्छा जीवन नहीं बिता सकता और विज्ञान धर्म का स्थान नहीं ग्रहण कर सकता।

जो लोग जान-बूझ कर अथवा अनजान में धर्म की ओट मे अधूरे मिथ्याधर्म का प्रचार करते है, व इस बात को समझ ले कि ये सारे साम्प्रदायिक सिद्धान्त (नियम), प्रतिज्ञाएँ तथा विधि-विधान, जिनका वे समर्थन करते है, और जिनकी शिक्षा देते हैं, अत्यधिक हानिकारक हैं, क्योकि वे मनुष्यों से उस केन्द्रीय धार्मिक सत्य को छिपाये रहते हैं, जिसका तात्पर्य है ईश्वर की आज्ञा का पालन करना, मनुष्य जाति की सेवा करना, दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार करना, जैसा कि कोई मनुष्य चाहता है कि दूसरे उसके साथ करें। यही वास्तविक धर्म का मूल मत्र है।

केवल पूजा-पाठ या मन्दिरों, मस्जिदों या गिरजा-घरो मे जाकर सब के साथ प्रार्थना कर लेना ही सच्चा धर्म नहीं है। मत्र, तत्र तथा नाना प्रकारके विधि-विधानों में ही धर्म की परिसमाप्ति नही हो जाती, न ये धर्म के अत्यावश्यक अग हैं। किन्तु धर्म के सच्चे मानी है ईश्वर

तथा अपने पड़ोसियों से प्रेम करना और इस आज्ञाका पालन करना कि "दूसरों के साथ वही करो, जो तुम चाहते हो कि दूसरे लोग तुम्हारे साथ करें"। यह नियम सद्धर्म और सदाचार का मूलमन्त्र है।

All things, therefore, whatsoever ye would that men should do unto you, even so do ye also unto them:—for this is the law and the prophets Matt VII, 12,

अर्थात् जो कुछ तुम चाहते हो कि दूसरे लोगों को तुम्हारे साथ करना चाहिये, वही तुम भी उनके साथ करो, क्योंकि कानून और धर्म यही है।

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।

हजारों वर्ष पूर्व ऋषियों को इस ईश्वरीय आदेश का ज्ञान हुआ था। पारस्परिक व्यवहार की यह सर्वोत्तम नीति है। बाइबिल कहती है— "प्रत्येक मनुष्य को दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार करना चाहिए, जैसा कि वह चाहता है दूसरे लोग उसके साथ करें।" इसी बात को चीन के महान धर्माचार्य कन्फ्यूशियस ने कहा है—"दूसरों के साथ वह बात न करो, जो तुम नहीं चाहते, दूसरे लोग तुम्हारे साथ करें।"

यह नियम बिलकुल साधारण है और प्रत्येक मनुष्य की समझ में आ सकता है। वास्तव में इससे मनुष्य का सबसे अधिक कल्याण हो सकता है। इसलिए इसका ज्ञान होते ही मनुष्य को चाहिए कि वह जितनी जल्दी सम्भव हो, इसके अनुसार आचरण करना आरम्भ कर दे तथा आने वाली सन्तति को इस नियम की और इसके अनुसार आचरण करने की शिक्षा देने में अपनी सारी शक्ति लगा दे।

ऐसा प्रतीत होता है कि बहुत पहले लोगों को इस नियम के अनुसार आचरण करना चाहिए था, क्योंकि इसकी शिक्षा कन्फ्यूशियस और महात्मा बुद्ध तथा यहूदी उपदेशक हिलेल और ईसा-मसीह ने एक ही समय में दी थी।

पर हजारों वर्ष बीतने पर भी लोग इस नियम के अनुसार आचरण तो करते ही नहीं और न बच्चों को इसकी शिक्षा देते हैं, बल्कि कई लोग तो ऐसे हैं जो इसे जानते तक नहीं और यदि जानते भी हैं, तो वे इसे या तो अनावश्यक समझते हैं, या अव्यवहार्य मानते हैं।

टेढ़ी-मेढ़ी साम्प्रदायिक, राजनीतिक, वैज्ञानिक और सामाजिक गलियों में भटकने वाले कहेंगे—"परन्तु क्या यह सम्भव है कि 'आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पश्यति' अथवा 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्' (अर्थात् दूसरे लोगों के साथ वही व्यवहार करो, जो तुम चाहते हो कि दूसरे लोग तुम्हारे साथ करें) जैसे सूत्रों में सम्पूर्ण ईश्वरीय आज्ञा और मानवधर्म का सार आ जाय?"

ऐसे लोग यह समझते हैं कि ईश्वरीय आज्ञा तथा मनुष्य के धर्म का प्रतिपादन सीधी और सरल भाषा में नहीं हो सकता, बल्कि विस्तारपूर्ण और जटिल सिद्धान्तों के रूप में उसका समझाया जाना जरूरी है।

यह बात बिलकुल सत्य है कि धर्म का तत्त्व बहुत छोटा और सरल है, किंतु इसका छोटापन और सरलता ही इस बात का प्रमाण है कि यह एक सच्चा, स्पष्ट, त्रिकाल टिकने वाला और धर्म-सम्मत नियम है—ऐसा ईश्वरीय नियम है, जो मनुष्य-जातिके हजारों वर्षों के अनुभव का निष्कर्ष है। यह किसी एक मनुष्य अथवा समाज का बनाया हुआ नियम नहीं, जो अपने आपको धर्म (मत-मजहब) के रक्षक, शासक या वैज्ञानिक कहते हैं। राज्य के कानूनों एवं विज्ञान की पोथियों में बहुत सी अच्छी-अच्छी बातें हो सकती हैं। उनमें कई बातों की गहरी और क्लिष्ट चर्चा की गयी है। यह सब बुद्धियुक्त और महत्त्वपूर्ण भले ही हो, पर इन बातों को थोड़े से लोग ही समझ सकते हैं। किन्तु, यह नीति ऐसी है, जिसे सब समझ सकते हैं और इस पर अमल भी कर सकते हैं। जाति, धर्म, विद्या, वय, देश—किसी बात की कैद नहीं।

साम्प्रदायिक, राजकीय अथवा वैज्ञानिक दलीलें जो किसी एक स्थान

और एक समय में सही मान ली गयी है, दूसरे स्थान और दूसरे समय में गलत हो सकती है। परन्तु यह व्यवहार-नीति ऐसी है, जो त्रिकाल सत्य है। जिन लोगों ने इसे एक बार समझ लिया है, उनके लिए यह सदा सही बनी रहेगी।

दूसरे नियमों और इस नियम में एक मुख्य अन्तर है। इन सभी साम्प्रदायिक, राजनीतिक एव वैज्ञानिक नियमों से लोगों को न सच्ची शान्ति मिलती है और न उनका कल्याण ही होता है। सच तो यह है कि इन नियमों की बदौलत ही लोगों में अधिकाधिक वैरभाव एव दुख-दारिद्र्य की वृद्धि होती है।

उसके विपरीत हमारी व्यवहार-नीति से—आचार के इस सुवर्ण सूत्र से—मनुष्य को सचा सुख, प्रेम और शान्ति प्राप्त हो सकती है। उसके लोक-परलोक दोनो सुधर सकते है। बस मानव केवल एक बात को मान ले और उस पर अमल करे—कभी दूसरे के साथ वैसा व्यवहार न करे, जो उसके साथ होने पर उसे नापसन्द हो। "आत्मन. प्रतिकूलानि परेषा न समाचरेत्", यह नीति अत्यन्त लाभप्रद एव मनुष्य-जाति का उपकार करने वाली है, यदि लोग इस पर अमल करें। यह मानव-समाज के सभी पारस्परिक सम्बन्धों को निर्धारित करती है। द्वेष तथा लड़ाई-झगड़े के स्थान पर प्रेमभाव तथा सेवाभाव की प्रतिष्ठा करती है। यदि मनुष्य अपने आपको इन धोखा देने वाले नियमों से बचा ले, यदि मनुष्य इसकी आवश्यकता और मानव-जीवन के लिए उपयोगी नीति को समझ ले, तो एक ऐसे नवीन अपूर्व विज्ञान का आविष्कार हो जाय, जो सब मनुष्यों के लिए एक-सा उपकारी और संसार का सबसे अधिक आवश्यक एव महत्त्वपूर्ण विज्ञान होगा, ऐसा विज्ञान, जो उस नियम के आधार पर यह शिक्षा देता है कि भिन्न-भिन्न व्यक्तियों तथा व्यक्तियों और समाजों के बीच होने वाले झगड़ों का अन्त किस प्रकार किया जा सकता है। और अगर इस अपूर्व विज्ञान का आविष्कार हो जाय, यह जड पकड़ जाय, इसका अध्ययन किया

जाय तथा आज-कल धर्म के नाम पर प्रचलित मिथ्या विश्वासों तथा प्राय अनुपयोगी अथवा नाशक विज्ञानों की शिक्षा के स्थान पर नवयुवकों और बालकों को इसकी शिक्षा भी दी जाय, तो मनुष्य का सारा जीवन ही बदल जाय और इसी के साथ-साथ उस कष्टमय परिस्थिति का भी परिवर्तन हो जाय, जिसमें अधिकांश जन-समाज जीवन बिता रहा है।

सम्मिश्रण नहीं, समन्वय

ऊपर धर्म की जो व्यापक परिभाषाएँ उद्धृत की गयी है, उनमे मतभेद के लिए तो कोई स्थान नहीं है। इसी धर्म के विषय मे पूज्य महात्मा गाधी जी ने लिखा है—"धर्म-ज्ञान होने पर अन्तराय मिट जाते है और समभाव उत्पन्न हो जाता है। इस समभाव के विकास से हम अपने सम्प्रदाय को अधिक पहचान सकते है। सभी सम्प्रदायो के मूल सिद्धान्त एक ही है। सभी मे सन्त स्त्री-पुरुष हो गये है, आज भी मौजूद है। सब सम्प्रदायों के प्रति समभाव रखने से अपने सम्प्रदाय के प्रति उदासीनता नहीं आती, बल्कि अपने सम्प्रदाय का प्रेम अन्धा न रह कर ज्ञानमय हो जाता है, अधिक सात्त्विक, निर्मल बनता है।'

किन्तु मत-मजहबों मे समभाव रखने का यह अर्थ तो हम नही लगा सकते कि हम "पीटर पीर प्रताप" (राजा महेन्द्र प्रताप) की तरह पूरे हिन्दू, पूरे मुसलमान और पूरे ईसाई बन जायं। यह सम्मिश्रण वांछनीय नहीं, वांछनीय है समन्वय। सम्प्रदाय-भेद है ऊपरी बातों को ले कर, बाहरी कर्मकाण्ड को ले कर, रहन-सहन को ले कर। इस ऊपरी भेद को मिटाने की आवश्यकता भी क्या है? जब हमारे हृदय एक है, तो देहो की अनेकता से कोई बाधा नही। हम यह भी नही कह सकते कि ऊपरी कर्मकाण्ड को एकदम छोड दिया जाय। इसका अर्थ होगा सम्प्रदायो का अस्तित्व ही मिटा देना, जिसे लोग पसन्द नहीं करते। आवश्यकता है केवल सम्प्रदायो के आत्मा को पहचानने की-

जो एक है। यही बात पूज्य गान्धी जी इस प्रकार कहते हैं—"प्रश्न यह होता है कि बहुत से मत-मजहबों को आवश्यकता क्या है। हम जानते है कि सम्प्रदाय अनेक है। आत्मा एक है, पर मनुष्य-देह अगणित है। देह की असख्यता टाले नहीं टल सकती। तथापि आत्मा की एकता को हम पहचान सकते है। धर्म का मूल एक है, जैसे वृक्ष का, पर इसके पत्ते असख्य हैं।"

साम्प्रदायिक सम्मिश्रण इस लिए भी इष्ट नहीं, क्योंकि उनका ऊपरी भेद, देश-भेद और काल-भेद के कारण है। मानवधर्ममीमांसा के लेखक ने लिखा है कि जहाँ जमीन काफी है और लकडी कम है, वहां मृत देह को जमीन में गाडना धर्म है; पर जहाँ ज़मीन कम है और लकडी काफी है, वहाँ मृत देह को जला देना ही धर्म है।

निष्कर्ष यह कि साम्प्रदायिक विद्वेष दूर करने के लिए आवश्यकता है धर्म के प्रचार की। जो धर्म सब सम्प्रदायों का हृदय है, उसे जान लेने पर अन्तराय मिट जायेंगे और हमारे हृदय एकता के सूत्र में पिरो दिये जायेंगे।

और, जब हमारे हृदय एक है, तो उनके बीच में स्वर्ग के समीरण का नृत्य होना सुखद है।

विषय-सूची

[पुस्तक के तीनो अध्याय उत्तरोत्तर अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। पहले अध्याय में विषय-प्रवेश ही है, दूसरे में धर्म के यथार्थ स्वरूप का दिग्दर्शन है, तीसरे मे महत्त्वपूर्ण विवेचन है। धर्म के नाम पर प्रचलित अन्ध-विश्वासों का शास्त्रीय खण्डन और यज्ञ आदि विषयों का तात्त्विक विवेचन तीसरे अध्याय में ही है।

पाठकों की सुविधा के लिये प्रत्येक पृष्ठ पर, उसमें आये हुए विषय के अनुसार शीर्षक दे दिये हैं।]

प्रथम अध्याय :—

द्वितीय अध्याय :—

विषय | पृष्ठ

मानवधर्म-मीमांसा

प्रथम अध्याय

जब यह मनुष्य नाम का प्राणी अपनी विवेक-बुद्धि के द्वारा कुछ ऊपर उठने लगा और यायावर (घुमक्कड) तथा वन्यजीवन की जगह नागरिक या बस्तीदारी का जीवन अपनाने लगा, तो सहयोग-सद्भावना का विकास हुआ। अपने नव (नागरिक) जीवन को अधिक सुखमय बनाने के लिए उस समय के ऋषियो ने कुछ नियम बनाये। समाज-व्यवस्था के लिए ऐसे नियम बनाना अनिवार्य था। जंगली जीवन मे कोई नियम-बन्धन न थे। चाहे जिसे चाहे जो मार देता था। चाहे जिसका भोजन चाहे जो छीन कर या चुरा कर खा लेता था। किसी भी स्त्री को कोई उठा ले जाता था। बच्चो के लिए समुचित व्यवस्था न थी! स्त्री-पुरुष का भी व्यवस्थित सहयोग न था। ठीक वही स्थिति थी. जो बन्दर या वन-मानसो की देखी जाती है।

धीरे-धीरे मनुष्य की वाणी निकली। भाषा बनी और इसमें विकास होने लगा। बुद्धि-विवेक जागृत हुआ और सोचा जाने लगा कि इधरसे उधर भागते रहने का यह यायावर-जीवन या जंगली जीवन छोड़ कर एक जगह बस्ती बना कर रहना अधिक अच्छा है। घर बनाना आ गया, पशु-पालन तथा खेती करना आ गया और विवाह-प्रथा का जन्म एवं विकास हुआ। बच्चों के पालन-पोषण की जिम्मेदारी पुरुष ने भी ली। स्त्री और पुरुष के काम का बँटवारा हुआ। बच्चे को साथ ले कर कठिन परिश्रम करने मे स्त्री को उतना सक्षम न देख कर इसे, घर पर सञ्चित भोज्य सामग्री तथा पशुओं आदि की रखवाली के लिए रहना ठीक समझा गया और पुरुषवर्ग योग-क्षेम का भार अपने ऊपर ले कर बाहर के सब काम करने लगा। परन्तु स्त्री फिर भी पुरुष की अपेक्षा निर्वल थी; अतः (पुरुष की अनुपस्थिति मे) दूसरे लोग आ कर उसके भोज्य पदार्थ तथा पशु आदि छीनने-चुराने लगे! स्त्री बेचारी अपने छोटे बच्चों को सँभालती या उनसे लड़ती? लड़ने पर भी क्या गति! इस तरह अव्यवस्था को दूर करने के लिए कुछ नियम बने और कहा गया कि इन नियमों का पालन सब को करना चाहिए। कहा गया—हमारा धर्म है कि इन नियमों का पालन करें। यह हमारा कर्तव्य है, धर्म है। उन नियमों में से कुछ ये हैं—

अहिंसा सत्यमस्तेय शौचमिन्द्रियनिग्रहः।

—अहिंसा हमारा प्रथम धर्म है। एक-दूसरे को मारना ठीक

नहीं है। सचाई का वर्ताव आपस मे करना चाहिए। किसी की चीज चुराना-छीनना बुरा है। यह काम न करना चाहिए। मन मे दगावाजी रखना बुरा है। सफाई अच्छी चीज है। अपने मन को तथा आंख आदि को वस में रखना चाहिए। यह नहीं कि किसी की कोई अच्छी चीज देखी और उसे ले लेने की सोचने लगे या जलने लगे। अपनी चीज मे ही सन्तोष से सुख लो, उसीसे काम चलाओ।

इन्हीं नियमों को बढ़ा कर दस की संख्या तक पहुचाया गया और कहा गया—'दशकं धर्मलक्षणम्'—धर्म के ये दस भेद है! आगे चल कर इसी तरह के और नियम-उपनियम बने। इस तरह धर्म या कर्तव्य-शास्त्र का विस्तार हुआ।

ऊपर 'सामान्य धर्म' का उल्लेख हुआ है। स्त्री, पुरुष, कोई भी हो, सव को 'अहिंसा' आदि नियमों का पालन करना आवश्यक है। इसके अनन्तर 'विशेष धर्म' सामने आये। स्त्री का पुरुष के प्रति तथा पुरुष का स्त्री के प्रति क्या धर्म या कर्तव्य है, इसके नियम बने। ये स्त्री-धर्म, पति-धर्म आदि 'विशेष धर्म' हैं।

इस प्रकार जव नियम बन गये और लोग उनका पालन करने लगे, तो जीवन सुखमय होने लगा। वह मार-हत्या रुकी और सुख-चैन की वृद्धि हुई। 'धर्म' इन कर्तव्य-नियमों को कहने लगे; क्योंकि मानव-समाज का धारण इनसे हुआ। इनके अभाव मे— धर्म के अभाव मे—समाज छिन्न-भिन्न हो जाता और फिर वही जंगलीपन! इसीलिए धर्म की प्रतिष्ठा हुई। परन्तु समाज मे

कुछ ऐसे लोग सदा रहते हैं, जो आसुरी प्रकृति प्रकट करके धर्म से असहयोग करते है। वे स्वार्थ के वशीभूत हो कर धर्म की उपेक्षा करते है। उस युग मे भी ऐसे लोग थे। उन्होंने कहा—"हम तुम्हारे धर्म को नहीं मानते—हम तुम्हारे 'सत्य-अहिंसा' आदि के सिद्धान्त-नियम न मानेंगे। जैसा मन होगा, करेंगे। लूटेंगे, मारेंगे, चोरी भी करेंगे और सब-कुछ करेंगे।"

इस घोषणा से आवश्यकता हुई एक शक्ति की, जो इन लोगों को बलपूर्वक भी अधर्म-मार्ग से रोके! पुरुषों की अनुपस्थिति मे यह धर्म-द्रोही पुरुष-दल सब कुछ छीन ले जाता था। रात मे चोरी भी कर लेता था। औरतों को भी उड़ा ले जाता था। मार भी देता था। क्या किया जाय?

सोचा यह गया कि इस दस्यु-वर्ग से जान-माल बचाने के लिए एक शक्ति चाहिए। कुछ लोग इसके लिए नियत किये गये। वे दिन-रात चौकसी करते थे। किसी की चीज कोई चुराने-छीनने न पाता था। यदि कभी किसी को ये रक्षक लोग चोरी करते या किसी की चीज छीनते या धोखा देते पकड़ लेते थे तो तरह-तरह की सजाएँ देते थे। सजा देने के नियम जब तक न बने, ये अपनी बुद्धि से चाहे जो सजा दे देते थे। हाथ काट लेते थे, आँख फोड देते थे, जान से मार देते थे। इस तरह 'अहिंसा' तथा 'अस्तेय' आदि धर्म की शक्ति से रक्षा हुई, उन नियमो का पालन जबर्दस्ती कराया गया। इस प्रकार समाज की रक्षा करने के लिए, धर्म का पालन कराने के लिए, जो विशिष्ट

रक्षक रखे गये उन के भोजन आदि की व्यवस्था वे लोग करते थे, जिनके परिवारों की ये रक्षा करते थे। सब लोग अपने अपने भोजन से थोडा-थोडा निकाल कर इन रक्षकों के मुखिया को देते थे और वह सब को बांट कर खाता था। यह आजकल के 'राज्य-कर' का पूर्वरूप था और यह उस तरह से समाज की रक्षा ही 'राज्य-व्यवस्था' का आदि रूप है। जो नियम इस तरह वलपूर्वक मनवाये गये, उन्हें ही आगे चल कर 'राज्य-नियम' कहा गया। 'अस्तेयम्'—चोरी न करना चाहिये. यह धर्म-नियम है। जब इस नियम का पालन वलात् कराया गया और कह दिया गया कि चोरी करने पर सजा दी जायगी, तो वही 'राज-नियम' या 'कानून' कहलाने लगा।

जाने, जाने लगे। अर्थात् समाज को धारण करने के लिए जो नियम बने, वे दो भागों मे आगे चल कर विभक्त हो गये। 'नागरिक शास्त्र' में जो कर्तव्य बताये गये है, वे धर्म ही तो है ! बस, यही संक्षेप में धर्म है। इसी का आगे विस्तार है। कर्तव्य-शास्त्र ही पहले 'धर्म शास्त्र' के नाम से चलता था।

विधि और निषेध

कर्तव्य या धर्मके दो मुख्य भेद है—१-सामान्य और २-विशेष। 'सामान्य' धर्म सब के लिए होता है। 'अहिंसा, सत्यम्, अस्तेयम्, शौचम्, इन्द्रिय-निग्रहः' आदि 'सामान्य धर्म' है। सबके लिए इन नियमों का विधान है। और, राजा का क्या धर्म है, प्रजा का राजा (सरकार) के प्रति क्या धर्म है, क्या कर्तव्य है, सन्तान का अपने माता-पिता के प्रति क्या धर्म है, ये सब 'विशेष धर्म' है, ये दोनो धर्म फिर 'विधि-निपेध' भेद से दो प्रकार के हैं। 'असहाय पर दया करनी चाहिए' यह 'विधि' है और 'हिंसा न करनी चाहिए' 'निषेध' है। 'असत्य न बोलना चाहिए' 'निषेध' है और 'सत्य बोलना चाहिए' 'विधि' है। कहीं-कहीं 'विधि' पर ही अधिक जोर है; जैसे 'सत्यं वद'—सच बोलो; सच बोलना ही चाहिए। यहाँ 'असत्यं न वद' कहने से काम न चलेगा; इसीलिए 'सत्यं वद' यों 'विधि' की है। मान लीजिए, आपके सामने किसी शक्तिशाली दुष्ट ने किसी निरपराध निर्बल को मारते-मारते बेदम कर दिया और उसके

घर वालों की भी बे-इज्जती की! आपमें इतनी सामर्थ्य नहीं कि उस दुष्ट का सामना करके उन असहायों की रक्षा कर लें! कुछ बोलें, तो आप भी ले लिये जाय। आपने एक धर्म की उपेक्षा की, असहाय की मदद नहीं की। आपमें शक्ति न थी; इस लिए आपकी यह धर्म-उपेक्षा सह्य है। परन्तु, यदि वह सताया हुआ व्यक्ति राज-न्यायालय में जाता है। राज्य की पुलिस उस दुष्ट को पकड लेती है और उस पर अभियोग चलता है। इस समय आपको प्रत्यक्षदर्शी साक्षी के रूप में उपस्थित किया जाता है और आप 'किसी झगड़े में पडना झंझट का काम है' समझ कर चुप रहना चाहें, तो क्या ठीक होगा? आप कहें —मैं झूठ तो बोलूँगा नहीं कि "यहाँ कोई मार-पीट नहीं हुई।" और न यही कहूँगा कि "पुलिस ने जिसे अभियुक्त बनाया है, वही यहाँ मारा-पीटा गया था।" ऐसा 'असत्य-भाषण' अधर्म है। "मैं ऐसा पाप न करूँगा।" तो, इतने मात्र से आपका कर्तव्य पूरा न होगा। 'असत्यं न वद' से ही काम न चलेगा। 'सत्यं वद' इस विधि का पालन करना होगा। सच बात कहनी ही होगी और उस दुष्ट को राज-शासन द्वारा ठीक कराना होगा। तभी समाज की शान्ति और सुव्यवस्था स्थिर रह सकेगी। इसीलिए 'असत्यं न वद' इस निषेध को ही नहीं, 'सत्यं वद' इस 'विधि' को आगे रखा गया है।

झूठ बोलना अपराध है: क्योंकि दूसरा को धोखा देने का यह साधन है। धोखा देने से या छल-विद्या से समाज-व्यवस्था

बिगड़ती है। इसीलिए इस 'धर्म' का पालन राज्य द्वारा बलात् कराया जाता है। ऐसा भूठ बोलना राज-नियम के अनुसार 'अपराध' है जिससे दूसरों को धोखा दिया जाय। भारतीय दण्ड-विधान की धारा ४२० बहुत प्रसिद्ध है। परन्तु विधि 'सत्यं वद' को भी कहीं-कहीं कानून में ले लिया गया है। किसी फौजदारी मामले में आपको पुलिस प्रत्यक्षदर्शी गवाह के रूप में चाहे और आप कहें कि मैं कुछ न कहूंगा, अदालत में न जाऊँगा, तो यह आपका अपराध समझा जायगा और सजा मिलती है, इसके लिए। यहाँ 'सत्यं वद' विधि जबर्दस्ती मनवाने का प्रयत्न राज्य न करे, उस 'धर्म' को कानून का रूप न दे दिया जाय, तो समाज का काम न चले। तब राज-शासन कैसे किसी दुष्ट को ठीक करेगा ? इसीलिए कभी-कभी 'विधि' रूप धर्म भी राज-नियम बन जाते है।

'दान करना चाहिए' यह 'विधि' है। दान एक बहुत बड़ा अंग है धर्म का। कारण, दान के द्वारा समाज के अनेक उत्तम कार्य होते हैं। पाठशाला, धर्मशाला, कुए, तालाब, छात्रवृत्तियाँ आदि 'दान' से ही सम्पन्न होने वाले काम है, जिनसे समाज को सुख मिलता है। परन्तु साधारणतः 'दान' 'विधि' को स्वेच्छा पर छोड़ दिया गया है। दान करो, तो उत्कर्ष होगा ; न करो, तो कोई जोर नहीं। यह साधारण स्थिति है। परन्तु अत्यन्त आवश्यक स्थल में 'दान' भी जबर्दस्ती करा लिया जाता है। 'दान' की विधि भी कानून का रूप धारण कर लेती है। चोरी,

डाका, लूट-खसोट, हिंसा आदि अधर्म को रोकने के लिए राज्य ने पुलिस तथा न्यायालय आदि विभाग स्थापित किये। धर्म का एक अंग 'विद्या' भी मनु जी ने बताया है और समाज का प्रत्येक व्यक्ति अपने बच्चों की शिक्षा के लिए प्रिंसिपल-प्रोफेसर बसे और इतने अपने यहाँ नौकर रख नहीं सकता। गरीब की तो बात ही दूसरी है, धनी भी शिक्षा का वैसा प्रबन्ध नहीं कर सकते। इसके लिए राज्य ने शिक्षा-विभाग स्थापित किया। विद्यालय, महाविद्यालय और विश्वविद्यालय बने। तो विधि-निषेध के इन कामों के करने के लिए राज्य को पैसा कहाँ से मिले? शिक्षा में कहाँ से खर्च किया जाय? निषिद्ध (चोरी, हिंसा आदि) कामों को रोकने के लिए पुलिस रखना आवश्यक और उसके लिए धन चाहिए। यह कहाँ से आये? जनता को 'दान' देने का उपदेश इसीलिए है। परन्तु सम्भवतः अपनी राजी से बहुत कम लोग राज को इन कामों के लिए 'दान' दें, यदि स्वेच्छा पर छोड़ दिया जाय। तब समाज का काम न चल सकेगा। इसीलिए राज्य ने जबर्दस्ती 'दान' लेने की व्यवस्था की। इसी को 'कर' कहते हैं। इतनी आय पर इतना 'दान' राज्य-व्यवस्था के लिए करना ही होगा, अन्यथा बल-पूर्वक ले लिया जायगा। यही राज्य द्वारा गृहीत 'दान' 'कर' है जिससे सड़कें बनती हैं रोशनी होती है और नदियों पर पुल बनते हैं। सबको आराम मिलता है।

इस तरह अनेक 'विधि' तथा 'निषेध' अनिवार्य समझे जाने पर 'राज-नियम' में ले लिये जाते हैं।

बिगड़ती है। इसीलिए इस 'धर्म' का पालन राज्य द्वारा बलात् कराया जाता है। ऐसा झूठ बोलना राज-नियम के अनुसार 'अपराध' है जिससे दूसरों को धोखा दिया जाय। भारतीय दण्ड-विधान की धारा ४२० बहुत प्रसिद्ध है। परन्तु विधि 'सत्यं वद' को भी कहीं-कहीं कानून मे ले लिया गया है। किसी फौजदारी मामले में आपको पुलिस प्रत्यक्षदर्शी गवाह के रूप मे चाहे और आप कहें कि मैं कुछ न कहूंगा, अदालत में न जाऊँगा, तो यह आपका अपराध समझा जायगा और सजा मिलती है, इसके लिए। यहाँ 'सत्यं वद' विधि जबर्दस्ती मनवाने का प्रयत्न राज्य न करे, उस 'धर्म' को कानून का रूप न दे दिया जाय, तो समाज का काम न चले। तब राज-शासन कैसे किसी दुष्ट को ठीक करेगा? इसीलिए कभी-कभी 'विधि' रूप धर्म भी राज-नियम बन जाते है।

'दान करना चाहिए' यह 'विधि' है। दान एक बहुत बड़ा अंग है धर्म का। कारण, दान के द्वारा समाज के अनेक उत्तम कार्य होते हैं। पाठशाला, धर्मशाला, कुए, तालाब, छात्रवृत्तियाँ आदि 'दान' से ही सम्पन्न होने वाले काम है, जिनसे समाज को सुख मिलता है। परन्तु साधारणतः 'दान' 'विधि' को स्वेच्छा पर छोड़ दिया गया है। दान करो, तो उत्कर्ष होगा, न करो, तो कोई जोर नहीं। यह साधारण स्थिति है। परन्तु अत्यन्त आवश्यक स्थल में 'दान' भी जबर्दस्ती करा लिया जाता है। 'दान' की विधि भी कानून का रूप धारण कर लेती है। चोरी,

डाका, लूट-खसोट, हिंसा आदि अधर्म को रोकने के लिए राज्य ने पुलिस तथा न्यायालय आदि विभाग स्थापित किये। धर्म का एक अंग 'विद्या' भी मनु जी ने बताया है और समाज का प्रत्येक व्यक्ति अपने बच्चों की शिक्षा के लिए प्रिंसिपल-प्रोफेसर वैसे और उतने अपने यहाँ नौकर रख नहीं सकता। गरीब की तो बात ही दूसरी है, धनी भी शिक्षा का वैसा प्रबन्ध नहीं कर सकते। इसके लिए राज्य ने शिक्षा-विभाग स्थापित किया। विद्यालय, महाविद्यालय और विश्वविद्यालय बने। तो विधि-निषेध के इन कामों के करने के लिए राज्य को पैसा कहाँ से मिले? शिक्षा मे कहाँ से खर्च किया जाय? निषिद्ध (चोरी, हिंसा आदि) कामों को रोकने के लिए पुलिस रखना आवश्यक और उसके लिए धन चाहिए। यह कहाँ से आये? जनता को 'दान' देने का उपदेश इसीलिए है। परन्तु सम्भवत· अपनी राजी से बहुत कम लोग राज को इन कामों के लिए 'दान' दें, यदि स्वेच्छा पर छोड दिया जाय। तब समाज का काम न चल सकेगा। इसीलिए राज्य ने जबर्दस्ती 'दान' लेने की व्यवस्था की। इसी को 'कर' कहते हैं। इतनी आय पर इतना 'दान' राज्य-व्यवस्था के लिए करना ही होगा, अन्यथा बल-पूर्वक ले लिया जायगा। यही राज्य द्वारा गृहीत 'दान' 'कर' है, जिससे सडकें बनती है, रोशनी होती है और नदियों पर पुल बनते है। सबको आराम मिलता है।

इस तरह अनेक 'विधि' तथा 'निषेध' अनिवार्य्य समझे जाने पर 'राज-नियम' मे ले लिये जाते है।

युगानुसार धर्म

कहा गया है कि धर्म की व्यवस्था समाज की शान्ति-व्यवस्था तथा सुख-समृद्धि के लिए है। हो सकता है, एक नियम समाज के सुख को ध्यान में रख कर जब-कभी बनाया गया हो, पर आगे चल कर किसी समय वह नियम अनावश्यक हो जाय; उससे समाज को हानि पहुंचने लग जाय! तब उस नियम को हटा दिया जायगा। इसी तरह किसी समय किसी नये नियम की उद्भावना भी होगी। देश, काल तथा पात्र के भेद से धर्म-भेद हो सकता है। मुख्य उद्देश्य है समाज की शान्ति-व्यवस्था तथा सुख-समृद्धि। इस के ही लिए सब नियम हैं, होने चाहिए। धर्म से सुख होता है। सुख अपना भी और समाज का भी। समाज मुख्य है और उसी मे हम भी है। धर्म के सब नियम इसी कसौटी पर कसे जायँगे। हमारे यहाँ बड़ी उदारता से कहा गया है—

'यतोऽभ्युदयनि श्रेयससिद्धि' स धर्म'

—जिससे अपनी उन्नति हो और कल्याण (मोक्ष) सुलभ हो, वही 'धर्म' है।

चोरी से चोर का 'अभ्युदय' तो है; बहुत साधन तुरन्त घर में आ जाता है; परन्तु उससे उसका कल्याण नहीं! आगे मुसीबत में पड़ेगा, जेल काटेगा, बन्धन मे पड़ेगा, मुक्त न रह सकेगा! समाज उसे खुला न छोड़ेगा। इसी लिए उसका वह काम (चोरी) धर्म नहीं, अधर्म है! जिससे 'यह लोक' बने, अपने को

सुख मिले और 'पर-लोक' भी बने, दूसरे लोग भी सुखी हों, वह 'धर्म है। 'जियो और जीने दो' का सिद्धान्त ही धर्म का मूल है। यही कसौटी है। इसके अनुसार धर्म के नियमों में फेर-फार हुआ करता है। हमारे यहाँ यह नहीं कहा गया है कि वशिष्ठ या याज्ञवल्क्य ने जो कुछ कह दिया, वही 'धर्म' है। सम्भव है, जिस समय उन्होंने धर्म के वे नियम बनाये थे, उससे आज भिन्न स्थिति हो। तब हम उन नियमों मे बँधे कैसे रहेंगे? हमे आवश्यकता के अनुसार उन नियमों मे फेर-फार करना होगा। कुछ मजहबों में कह दिया गया है कि 'जो कुछ यहाँ लिख दिया गया है, वही धर्म है।' यह गलत चीज है! इसीसे जड़ता बढ़ी और 'धर्म' के नाम पर खून-खराबियाँ हुई। वास्तविक धर्म मे ऐसा नहीं है। यहाँ एक कसौटी दी गयी—'यतोऽभ्युदय-नि श्रेयससिद्धिः स धर्म.'! प्रत्येक धर्म को, नियम को, इस पर कस लो। कितनी छूट है। हमारे धर्माचार्यों ने बुद्धि पर जोर दिया है और कहा है कि प्रत्येक नियम की बुद्धि से परीक्षा करो और देखो कि वह तुम्हारे अभ्युदय तथा निःश्रेयस मे सहायक है कि नहीं। यदि सहायक है, तो उसे 'धर्म' कहेंगे और बाधक है तो 'अधर्म'। श्रीकृष्ण ने कहा है—'बुद्धि शरणमन्विच्छ'—बुद्धि का सहारा लो। 'गायत्री' मन्त्र वेदों का सार है, जिसमें भगवान् से यही प्रार्थना की गयी है कि हमारी बुद्धि को यहाँ बुद्धिवाद मे दृढता की कामना की गयी है जो मानव-जीवन का मूल है। कहा गया है कि अपनी बुद्धि से सोचो, कौन बात क्यों

ठीक है। कोई भी चाहे जैसे नियम बना कर 'धर्म' के नाम पर चला दे, यह कह कर कि मैं 'ईश्वर का दूत हूं'; तो क्या हमें आँखे मूँद कर वह सब मान लेना चाहिए? नहीं, ऐसा मानना अधर्म होगा। हम समाज की शान्ति-व्यवस्था तथा सुख-समृद्धि के लिए बुद्धि की कसौटी पर किसी की भी बात कसेंगे और तब मानने योग्य मानेंगे, न मानने योग्य न मानेंगे। इस 'बुद्धिवाद' का तिरस्कार कर देने से ही वे सब पन्थ चले, जहाँ कहा गया कि 'जो इस मजहब में न आये, उसे अधर्मी समझ कर कत्ल कर दो, क्योंकि उसका कत्ल कर देना धर्म है और इससे तुम्हें स्वर्ग लोक की प्राप्ति होगी!' ऐसे ही जड़वादों से संसार में अनेक बार 'कत्लेआम' हुआ है। मानव धर्ममें इस जड़वाद की जड़ ही काट दी गयी है। क्या धर्म या अधर्म है, इसकी पहचान के लिए कुछ निर्देश हैं। मनु जी ने लिखा है :—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥

धर्म का लक्षण—कर्तव्य की पहचान—चार तरह से कर सकते हो। वेद (ज्ञान) धर्म में प्रमाण है। स्मृति या धर्मशास्त्र भी धर्म का स्वरूप बतलाते है। सत्पुरुषों के आचरण देख कर भी कर्तव्य—अकर्तव्य का बोध हो जाता है। और इन सब पर मुहर है अपनी अन्तरात्मा की! मन स्वयं कह देता है कि यह कर्तव्य है, यह अकर्तव्य है। सो, मन या बुद्धि को धर्म-निर्णय में प्रमुख स्थान प्राप्त है।

युग के अनुसार भी कर्तव्य-कर्म बनते-बदलते है। एक समय मे जो सुखदायक है, दूसरे समय मे वही दुखदायक हो सकता है। नयी समस्याएँ भी खड़ी हो सकती है। मुख्य उद्देश्य सामने है—समाज की सुख-समृद्धि। उस मे सहायक जो हो, वही कर्तव्य, धर्म। उस मे वाधक हो, वह अधर्म। यही कारण है कि युग-युग मे धर्म या कर्तव्य कर्मों मे किंचित् फेर-फार होता रहा है। मनु ने लिखा है—

अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरे परे।
अन्ये कलियुगे नृणां युगह्रासानुरूपत ॥

—मनुष्यो के धर्म या कर्तव्य सतयुग मे कुछ और थे और त्रेता तथा द्वापर मे कुछ और। कलियुग मे कर्तव्य-कर्म कुछ और हो गये हैं। युग-ह्रास या काल-क्रम के अनुसार (परस्थितियाँ बदलने से कर्तव्य-कर्मों मे फेर-फार होता है। समय-समय पर अनेक स्मृति-ग्रन्थ या धर्म-शास्त्र बने और उन में परस्पर कहीं-कहीं बहुत मत-भेद है। इस का कारण यही कि एक का प्रणयन एक समय मे हुआ, दूसरे का दूसरे समय। वेदमूलक सब अपने को कहते है और हैं भी। कारण, वेद का तो उपदेश ही यह है कि धर्म का आचरण करो और अभ्युदय तथा निःश्रेयस—इस लोक मे उन्नति और बाद मे सद्गति—प्राप्त करो। वेद यह भी कहते है कि धर्म का निर्णय बुद्धि से करो। प्रत्येक जन की प्रत्येक परिस्थिति के लिए कर्तव्य-अकर्तव्य का निर्णय किसी भी शास्त्र मे हो ही नहीं सकता है। सो, वेद भगवान् की आज्ञा के

अनुसार युगानुरूप विभिन्न स्मृति-ग्रन्थों का निर्माण समय-समय पर हुआ। यदि कहीं किसी स्मृति में कोई बात ऐसी है, जो वेद-विरुद्ध मालूम दे, तो उसे न मानने के लिए स्वयं मनु जी कहते हैं—

या वेद-बाह्या· स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः।
ताःसर्वा निष्फला प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृता· ॥

जो धर्म-ग्रन्थ वेद-विरुद्ध हों और जिन में सूक्ष्म दृष्टि का अभाव हो, वे सब व्यर्थ है। उन से धर्म-निर्णय हो नहीं सकता। वे चल कर अन्धकार मे पहुंचे-पहुंचायेंगे! वेद, ज्ञान। वेदबाह्य स्मृति, अज्ञान से भरे 'धर्म-ग्रन्थ,' त्याज्य।

और, यह सब निर्णय बुद्धि से होगा कि कौन सा धर्म-ग्रन्थ वेद-बाह्य है। वेद ही धर्म का उत्तम लक्षण क्यों है? बुद्धि से देखो और चीज पहचानो। इस तरह यहाँ 'अन्तरात्मा' को धर्म में प्रमाण माना गया है। आत्मा तुरन्त बोलती है कि यह काम अच्छा है और यह बुरा। उस (आत्मा) की बात स्वार्थ के कारण कोई न माने, 'आत्म-हत्या' करे, तो इस का क्या उपाय? यही असली 'आत्म-हत्या' है, जो 'महापातक' कर के धर्म-ग्रन्थ में उल्लिखित है। जिस की आत्मा ही मर गयी, उस से क्या धर्म-कर्म की आशा। वह सब कुछ कर सकता है—राक्षस बन सकता है!

सो, युग के अनुसार कर्तव्य-कर्मों में फेर-फार हुआ करता है, होता आया है, होता रहेगा। व्यक्ति-भेद से या देश-भेद से भी कर्तव्य-भेद होता है! इस तरह धर्म या कर्त्तव्य की कोई इयत्ता

नहीं, कोई संख्या नहीं। सर्वत्र बुद्धि को काम में लाना पड़ेगा।

मनु के निर्देश—'दशलक्षण धर्म'

कहा गया है कि उन कर्तव्य-कर्मों को धर्म कहते है, जिन से अभ्युदय तथा निःश्रेयस की प्राप्ति हो। यह भी कहा गया कि बुद्धि से मालूम करो, क्या कर्तव्य तथा क्या अकर्तव्य है। मनु ने नमूने के तौर पर दस प्रकार लिखे है, जो इस तरह के अन्य कर्तव्य-कर्मों के उपलक्षणमात्र हैं। अर्थात् जो अन्य सद्गुण या सत्कर्म इस 'दशलक्ष' मे नहीं आये है, उन का भी संकेत है। मतलब यह कि ये जो दस बाते बतायी हैं, इसी तरह की अन्य भी धर्म में सम्मलित है। हो सकता है, मनु से पहले समाज में इन्हीं दस बातो पर अधिक जोर दिया हो और मनु ने ज्यों का त्यों लिख दिया हो। हैं भी ये दस अत्यन्त आवश्यक, समाज-सचालन के लिए। देखिए—

> धृति क्षमा दमोऽस्तेय शौचमिन्द्रियनिग्रह ।
> धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशक धर्मलक्षणम् ॥

ये दस धर्म के लक्षण या उपलक्षण हैं—१—धृति, २—क्षमा, ३—दम, ४—अस्तेय, ५—शौच, ६—इन्द्रियनिग्रह, ७—धी, ८—विद्या, ९—सत्य और १०—अक्रोध।

धृति=धैर्य, जो व्यक्ति तथा समाज के लिए बहुत जरूरी है। धैर्य के बिना न व्यक्ति का काम चल सकता है, न समाज का। क्षमा की उपयोगिता के बारे मे कुछ लिखने की जरूरत ही

नहीं है। 'दम' कहते हैं मन को वस में रखने को, जो धर्म का मूल ही है। जिस का मन वस में नहीं, वह बुरे से बुरा काम कर सकता है। 'अस्तेय' कहते है चोरी न करने को। समाज का यह सबसे बड़ा अपराध है। सब से ज्यादा इस का जोर है। इसे हटाना एक बड़ा धर्म है। इन्द्रिय-निग्रह का कहना ही क्या ! लोग आँखों के और रसना आदि इन्द्रियों के चक्कर मे आकर बड़े से बड़ा अपराध कर बैठते हैं। इन्द्रिय-निग्रह करना धर्म है ; बहुत बड़ा धर्म है, धर्म की जड है। धी (बुद्धि) से काम लेना भी हमारा धर्म है और बहुत बड़ा धर्म है। भेड़-चाल को मिटाना पुण्य कार्य है। विद्या तो धर्म है ही। विद्या पढ़ना हमारा धर्म या कर्तव्य है और इस से फिर आगे धर्म-निर्णय करने मे मदद मिलती है। 'सत्य' का धर्म मे क्या स्थान है, सब जानते है। इस के बिना व्यक्ति या समाज का काम चल ही नहीं सकता। व्यापार तो नष्ट हो ही जाता है ! सचाई का बर्ताव करने के कारण ही दूसरे देशवाले अरबों रुपये कमाते हैं और सात समुद्र पार यहाँ बैठे हुए हम करोड़ों के आर्डर रोज उन्हें देते रहते है। हमारे यहाँ नमूना कुछ देंगे, माल कुछ देंगे ! ऊपर कुछ है, भीतर कुछ। इसी लिए व्यापार नहीं चलता है। 'सत्यनारायण' की कथा में यही सब समझाया है। सत्यनारायण का 'व्रत' भंग कर देने के कारण उस व्यापारी के वे भरे-भराये जहाज डूब गये थे। फिर सत्यनारायण का व्रत लिया, फिर माला-माल ! यह 'सत्यनारायण का व्रत' है क्या, जिस का इतना माहात्म्य ? दिन भर भूखा

रहना मात्र? झूठ वास है। 'सत्य' ही नारायण हैं। 'सत्य-नारायण का व्रत'—सत्य बोलने की पवित्र प्रतिज्ञा! इसी व्रत का यह माहात्म्य है। क्रोध न करना भी मनुष्य का धर्म है। क्रोध से भी बड़े-बड़े अनर्थ हो जाते हैं।

इस तरह ये दस भेद हुए। इसी तरह दान, परोपकार आदि भी समझिए, जिन का इस मे उल्लेख नहीं है। वस्तुत. ये दस धर्म के मूल कारण समझे गये हैं।

मनु ने अपने समय तक प्रचलित सभी कर्तव्यों का तथा शिष्टाचार आदि का उल्लेख किया है। वह समय अव से बहुत पहले का है। अनेक बातो मे हमारे जीवन मे परिवर्तन हो गया है। फिर भी, मनु ने सूत्र दिया है कि वेद तथा धर्मशास्त्र से धर्म का निर्णय करो और सत्पुरुषों के आचरण देखो, शिक्षा लो। सब से ऊपर तुम्हारा अन्तरात्मा है, धर्म का निर्णय करने मे। अपनी बुद्धि से काम लो। सब स्पष्ट हो जायगा। यह बहुत उत्तम पहचान है।

मनु ने धर्म का निर्णय बडे विस्तार से किया है। सामान्य धर्म, विशेष धर्म, आपद्धर्म आदि का वर्णन अलग-अलग किया है। राज-धम के वर्णन मे राज-नीति का तत्त्व ही समझा दिया है। स्त्री-धर्म, पति-धर्म आदि सब कुछ है। यहां, अगले अध्याय मे. मनु-स्मृति से कुछ वाक्य हम उद्धृत करेंगे। आप देखें, कैसे सुन्दर ढंग से धर्म-निरूपण किया गया है। इन धर्म-नियमो मे से बहुतो को कानून का रूप मिल गया है, आजकल कुछ को 'नागरिक कर्तव्य' कहते हैं और कुछ 'शिष्टाचार' मे गृहीत है।

द्वितीय अध्याय

मनुस्मृति के कुछ वचन

१—परम धर्म

आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च ।
तस्मादस्मिन् सदा युक्तो नित्य स्यादात्मवान द्विजः ।

× × ×

आचाराद्विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते ।
आचारेण तु सयुक्त सम्पूर्णफलभाग् भवेत् ।

× × ×

एवमाचारतो दृष्ट्वा धर्मस्य मुनयो गतिम् ।
सर्वस्य तपसो मूलमाचार जगृहु परम् ।

'द्विज' उस समय सुसंस्कृत जन को कहते थे जिसे आजकल हिन्दी में 'शिष्ट' और अंग्रेजी में 'जेण्टिलमेन' कहते हैं। धर्म तो इन्हीं के लिए है। असंस्कृत लोग धर्म या कर्तव्य का विचार क्या जानें। सो मनुजी ने 'द्विज' के लिए आचार—आचरण सब से बड़ा धर्म बतलाया है। जिसका आचरण ठीक नहीं, चाल-चलन खराब है, वह चाहे जितना पढ़ा-लिखा (वेदविद्) हो, कभी जीवन में सफल न होगा।

मनुजी कहते हैं—आचरण सब से बड़ा धर्म है। वेदों मे और धर्म ग्रन्थो मे आचरण अच्छी तरह समझाया गया है। इसलिए द्विज को सदा इस—आचरण—पर ध्यान रखना चाहिये। और यह तब हो सकता है, जब 'आत्मवान्' बनोगे, मन तुम्हारे वस मे हो। मन-चले आदमी कभी भी अपना आचरण ठीक नहीं रख सकते।

—आचरण-हीन द्विज अपनी विद्वत्ता का-अपने ज्ञान का फल प्राप्त नहीं कर सकता। कोई बी० ए०, एम० ए० यदि चोर या लफंगा हो तो उसे कैसे कोई उत्तम पद मिल सकेगा? उसका तो पतन होगा। हाँ, विद्वत्ता के साथ-साथ यदि आचरण भी ठीक है, तो सर्वथा उसे सफलता मिलेगी।

—इस तरह के आचरण पर ही मुनियों ने धर्म—कर्तव्य-शास्त्र—का सब कुछ देखकर इसे सब तपस्याओं का मूल बतलाया है—जड उन्होने पकडी है।

सच पूछो तो ये वाक्य सम्पूर्ण धर्म-शास्त्र के सार है। कर्तव्य-शास्त्र पढ़ने से कुछ नहीं होता, जब तक अपने आचरण मे उसे पूरा न उतारो। धर्म के जो अङ्ग—सत्य-अहिंसा आदि—बताये हैं, उन्हें जान लेने से काम न चलेगा, उन पर आचरण करने से फल मिलेगा। धर्म का फल है—समाज की सुख-समृद्धि और उस समाज मे हम-सब है। 'सत्य बोलना बड़ा अच्छा है' कहने से काम न चलेगा, जब तक उसे अपने आचरणों में न उतारोगे। सचाई के व्यवहार से ही तुम सुख पाओगे। सत्य-

नारायण के व्रत का महात्म्य है ; पर एक दिन उपवास करने का नहीं। सत्य का मजाक करते हैं लोग। सत्य ही क्यों, धर्म के सभो अङ्गों का यही मजाक! 'महात्मा, गान्धी की जय' बोलते हुए और अहिंसा के गीत गाते हुए हजारों लोगों ने बड़ी क्रूरता के साथ निरपराध लोगों का कत्ल किया, यह हमने देखा। यह 'अहिसावाद' का और महात्मा गान्धी की अनुयायिता का मजाक। इससे तो संसार मे और अधिक पशुता बढ़ती है। इससे तो वे जंगली ही अच्छे जो सत्य और अहिंसा आदि धर्माङ्गों की बात ही नहीं जानते। कानून को जान कर उसका उल्लङ्घन करना बहुत बड़ा अपराध है।

आजकल 'धर्मात्मा' लोगों में आचार का एक न्यारा ही अर्थ लिया जाता है। जो किसी के भी हाथ की बनी रोटी न खाता हो, लकड़ी भी धो कर रसोई में ले जाता हो और पानी से नहीं, दूध से आटा मसलता हो और तब पूड़ियाँ बना कर खाता हो, वह आचार-विचार रखने वाला कहा जाता है। भले ही फिर वह तुम्हें काटने दौड़ता हो, स्वार्थी हो और स्पष्ट कहता हो— 'हमे दुनिया से क्या मतलब'। स्वामी श्रद्धानन्दजी अपने कुटुम्ब की एक चर्चा किया करते थे—

'हमारे यहाँ एक रसोइया नौकर था—गौड ब्राह्मण। मेरे पिताजी पुलिस-कोतवाल थे। हम लोग छोटे थे और छुआछूत की बातें न जानते थे। कभी धोखे मे भी पाँव चौके के भीतर पड़ जाता तो वे महाराज बहुत बिगड़ कर कहते—हम (कोतवाल

साहब से) बाबू जी से कह देंगे कि हम धर्म भ्रष्ट कराने नहीं आये हैं। आचार-विचार हम न खोयेंगे। हमने चाहे चोरी की हो, चाहे झूठ बोला हो और चाहे जो किया हो, पर अपना धर्म कभी नहीं छोड़ा है। हम अपना आचार-विचार न छोड़ेंगे, चाहे जो हो।'

बस इस तरह लोग धर्म को न जाने क्या समझते हैं और आचार को तो जो-कुछ समझते हैं साफ ही है। इसीलिये सब गड़बड़ है।

वस्तुत: आचार पर अत्यधिक जोर ऋषि-मुनियों ने इसीलिये दिया है कि यही तो 'म्याऊ का ठौर' है। धर्म को जान लेना मामूली बात है, उस पर आचरण कठिन है। कौन नहीं जानता कि सत्य बोलना और दया करना धर्म है। परन्तु आचरण में कितने खरे उतरते हैं? फिर भी वे रुपये के बल पर 'धर्म-वीर' और 'धर्मावतार' कहलाते हैं। लोगों का गला काट कर दस-बीस लाख पैदा किये और इसमें से दस हजार 'गुरुकुल' को दान कर दिये तो उत्सव पर लाखों की भीड़ में डंका बज जायगा—"श्रीमान् धर्मवीर महाशय ने वैदिक धर्म के लिये दस हजार दिये हैं।" सनातन धर्म सभा को कुछ टुकड़ा फेंक दिया तो 'धर्मावतार'। इस तरह आजकल लोग धर्म भी खरीद लेते हैं। उनके सब दुराचार दबा दिये जाते हैं, 'धार्मिक' संस्थाओं के द्वारा ही। धर्म तथा आचरण का ढोंग सर्वत्र बढ़ रहा है। आचरण-हीनता बढ़ रही है और इसे बढ़ाया अंग्रेजी राज्य ने,

उससे भी अधिक रँगीली और रसीली कहानियों ने, जिनके कई मासिक पत्र निकल रहे हैं। इससे भी अधिक नंगे रूप में सिनेमा आये! रेडियो के गन्दे गाने तो मामूली चीज हैं। ये सब मिल कर स्वतः-उद्भूत कामाचार की आग में आहुति डाल रहे है और राष्ट्र के आचार को भस्म किये दे रहे है। राज्य को सचेष्ट होना चाहिए और आचरण पर जोर देने के लिए शिक्षण-संस्थाओं की प्रवृत्ति वैसी करनी चाहिए।

२—कामना

कामात्मता न प्रशस्ता, न चैवेहास्त्यकामता।
काम्यो हि वेदाधिगमो, कर्मयोगश्च वैदिक॰ ॥

—एकदम कामनाओं में डूब जाना अच्छा नहीं है। क्योंकि ऐसा होने पर कर्तव्य-निष्ठा मे बाधा पड़ सकती है। परन्तु इस दुनिया मे एकान्ततः कामना-रहित हो जाना भी सम्भव नहीं। मतलब यह कि कामनाओं को कर्तव्य पर हावी न होने दो और उन पर धार्मिक नियन्त्रण रखो। सबसे अच्छी कामना तो ज्ञानार्जन की होनी चाहिये—'काम्यो हि वेदाधिगमः।' इसके बाद, नहीं, इसके साथ ही, दूसरी कामना कर्तव्य-मार्ग पर दृढ़ रहने की होनी चाहिये—'कर्मयोगश्च वैदिकः काम्यः।' केवल ज्ञान किस काम का, जहाँ कर्तव्य-भावना न हो और कर्तव्य भी ज्ञान के बिना क्या होगा। कर्तव्य का निश्चय ज्ञान से होगा और फिर उसे पूरा करने के लिये ज्ञान चाहिए। सो विद्या और

कर्तव्य ये दो काम्य विषय होने चाहिए। शेष सब नैसर्गिक कामनाओं पर अंकुश रहना चाहिए।

जो लोग कहते हैं, उपदेश करते हैं, कि कामना-रहित हो जाओ, वे संसार की नैसर्गिक धारा को समझते नहीं हैं। उसे रोका नहीं जा सकता है, मोड़ा जा सकता है और बहुत कुछ उस पर नियन्त्रण किया जा सकता है। वैसे भी महापुरुष हो सकते हैं, जिनके कोई कामना न हो, पर क्या ऐसे महापुरुष सैकड़ों और हजारों एक साथ हो सकते हैं? और वे (महापुरुष) भी किसी के उपदेश से वैसे अकाम नहीं होते, स्वतः उनकी वैसी प्रवृत्ति होती है। फिर उनके मन में भी लोक-कल्याण की भावना तो रहती ही है। वे भी कुछ चाहते ही हैं। तो कामना का नियन्त्रण जरूरी है और अच्छी चीज की कामना करनी चाहिए। ये दो बातें स्पष्ट हुई। नैसर्गिक—धन-सम्पदा आदि की—कामनाओं पर कर्तव्य का अंकुश रहे। अकर्तव्य या अधर्म के मार्ग से उन कामनाओं की पूर्ति मत करो, उचित मार्ग से करो। और, जहाँ तक हो सके, ज्ञान तथा कर्म-योग की कामना करो।

३—अति भोजन

'भोजन' का प्रयोग यहाँ व्यापक अर्थ में है। 'भोजन' में 'भुज्' धातु है और 'भोग' में भी। प्रत्यय-भेद भर है। सो, 'भोजन' का व्यापक अर्थ यहाँ है—भोग-विलास और उनके साधन धन-दौलत। मनु कहते हैं—

अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनम् ।
अपुण्य लोक-विद्विष्ट तस्मात् तत्परिवर्जयेत् ॥

— 'अति भोजन'—अत्यधिक ऐश-आराम में डूब जाना—बहुत बुरा है ! 'अनायुष्यम्'—विलासिता से आयु कम हो जाती है। बहुत विलासी लोगों को तपेदिक जल्दी होता है, जिसे संस्कृत में 'क्षय' कहते हैं। शरीर को धारण करने वाली शक्ति का अतिशय क्षय हो जाने से यह रोग होता है, इसीलिये इसका नाम 'क्षय' है। 'महाभारत' में कथा है कि विचित्रवीर्य राजा को क्षय हो गया था; क्योंकि वह बहुत विलासी था ! 'भोजन'= इन्द्रियों के भोग ! अधिक खाना मार लेता है, उसी तरह आँखों का नशा भी नष्ट कर देता है। इसी तरह अन्यांन्य इन्द्रियाँ समझिए। 'अति' सर्वत्र गर्हितम्। 'अस्वर्ग्यम्—अति-भोजन से नरक भी मिलता है, क्योंकि लोगों को पीडा पहुंचा कर और कर्तव्य-च्युत हो कर ही यह सम्भावित है। 'अपुण्यम्'—अति भोजन पाप भी है। तुम ने सौ मकान घेर लिये व्यर्थ ! एक में नहाते हो, एक में कपड़े बदलते हो और एक मे लोगों से गप-शप लड़ाते हो ! इसी तरह सौ आदमियों ने आधा शहर घेर लिया। गरीब कहाँ जा कर रहें ? वे जानवरों की तरह कहीं पड़ कर दिन काटते है, तुम्हारे उस पाप से। तुमने एक मन दूध खरीद लिया और तुम्हारे-कुत्ते भी दूध इतरा कर पीते है। इस व्यर्थ खर्च से दूध गरीबों के बच्चों को मिलता नहीं ! यह पाप। 'लोक-विद्विष्टम्'—तुम्हारे इस 'अति भोजन' से लोक-

विद्वेष बढ़ेगा। तुम्हारे विरुद्ध लोक-वातावरण होगा और फिर समझ लो, इसका फल क्या होगा।

'तस्मात् तत्परिवर्जयेत्'—इसलिए वैसी बात यदि हो, तो छोड़ देनी चाहिए, ठीक रास्ते पर आ जाना चाहिए; यदि कल्याण चाहते हो।

४—सफलता की कुंजी

वशे कृत्वेन्द्रियग्राम संयम्य मनस्तथा।

सर्वान् संसाधयेदर्थानक्षिण्वन् योगतस्तनुम् ॥

—अच्छी तरह अर्थ सिद्ध करना चाहिए—अर्थ-सिद्धि किंवा प्रयोजन-सिद्धि किंवा धन-प्राप्ति के लिए उद्योग करना चाहिए। छात्र का प्रयोजन विद्या से है, गृहस्थ का काम अर्थ (धन) से चलता है, एक रणोन्मुख सैनिक का प्रयोजन शत्रु-विजय है। देश, काल और पात्र के भेद से संसाध्य अर्थ में भेद होता है। परन्तु इन सभी अर्थों की प्राप्ति या सफलता के लिए जरूरी है कि इन्द्रियों को वश में किया जाय। मन पर काबू हो। मन-चले लोग कभी कोई काम पूरा नहीं कर सकते।

मनु का कथन है—इन्द्रियों को वश में कर के और मन पर नियंत्रण रख कर सभी अर्थ सिद्ध करने चाहिए। या, सभी अर्थों को सिद्ध करने में ये दो बातें जरूरी हैं—१-इन्द्रियों को वश में रखना और २-मन को वश में रखना।

विभिन्न अर्थों के सिद्ध करने में 'योग' से काम लेना चाहिए।

योग क्या ? श्रीकृष्ण ने स्पष्ट कहा है—'योगः कर्मसु कौशलम्'—काम करने में जो कुशलता है, वही 'योग' है। 'युक्ति' और 'योग' एक ही धातु से निष्पन्न हैं। युक्ति से काम करना चाहिए। और, विभिन्न अर्थों के सिद्ध करने में ऐसे न लग जाओ कि शरीर ही रोगी हो कर नष्ट हो जाय। 'अक्षिण्वन् योगतः तनुम्'—'योग' से काम लेते हुए और शरीर को धक्का न पहुंचाते हुए। शरीर ही न रहा, तब धन का क्या होगा!

सारांश यह कि सब प्रयोजन युक्ति-पूर्वक सिद्ध करने चाहिए। सफलता के लिए मन और इन्द्रियों को बस में रखना जरूरी है। और, अर्थ-सिद्धि में ऐसे न जुट जाना चाहिए कि शरीर ही क्षीण हो जाय! सब कामों में 'योग' आवश्यक है। सामञ्जस्य का नाम योग है—'समत्वं योग उच्यते'। सब चीज उचित मात्रा में।

५—महान् कौन ?

कोई धन से किसी को बड़ा समझता है, कोई आयु से। 'वे तो बड़े आदमी है भाई' ऐसा आप सुनते है, धनी लोगों के लिए। उम्र से भी 'बड़े' होते है। कहा जाता है, बड़े लोग जैसा करें, वैसा करना चाहिए। तो, 'बड़े' कौन ? धनी या आयु से बड़े ? किस की बात मान कर चलना चाहिए ? धनी को नेता बनाया जाय, या आयु में बड़ा हो, उसे ? मनु जी का उत्तर है—

> न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न बन्धुभिः।
> ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान्॥

—उम्र में अधिक होने से या सिर के बाल सफेद हो जाने मात्र से ही कोई 'बड़ा' नहीं हो जाता है। धन से भी 'बड़ा' नहीं कहा जा सकता। किसी का कुटुम्ब बड़ा हो, उस से भी वह 'महान्' नहीं हो सकता। ऋषियों ने बताया है कि हम में जो अधिक ज्ञानवान् है, बड़ी बुद्धि रखता है, वही 'महान्' है। पूर्वापरविवेक जो रखता है, उस विद्वान् को 'अनूचान' कहते हैं। वही 'महान्' है। जिस मे यह गुण जितना ही अधिक होगा, वह उतना ही 'महान्'।

सरकारी या साधारण सार्वजनिक संस्थाओं के निर्वाचन पर यह प्रसंग आता है जब लोग कहते है—"अरे भाई, बड़े आदमी को मेंबर बनाना चाहिए। देखो: वे ऐसे है, वैसे है। लाखों-करोड़ों का लेन-देन है', इत्यादि। जब इस तरह के लोगो के बल पर ये 'बड़े आदमी कुर्सी पर पहुच जाते है, तो होता क्या है? पार्टीबाजी और रुपये के बल पर मत-क्रय। साधारणतः आप कुर्सी पर बैठे ऊंघा करते है। बोलें क्या? रुपया तो बोलना सिखा न देगा! बोलना भी आये, तो क्या बोलें? स्वार्थ-त्याग या जन-हित की कोई बात कहने से रहे। जनता जाय भाड़ मे। अपने काम की बात हो ही जाती है।

सो, समझो कि 'महान्' कोई उम्र अधिक होने से या धन से नहीं बन जाता है। ज्ञान मुख्य है।

६—स्त्री-सम्मान

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राऽफलाः क्रियाः ॥

—जहाँ स्त्रियों को सम्मानपूर्वक रखा जाता है, वहाँ देवताओं का निवास समझना चाहिए। और जहाँ इनका निरादर होता है, वहाँ कोई काम अच्छा फल नहीं दे सकता, कोई भी काम ठीक नहीं होता।

शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम् ।
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्द्धते तद्धि सर्वदा ॥

—जिस कुल में बहू-बेटियाँ शोक-सन्तप्त रहती है, दुखी रहती हैं, वह बहुत जल्दी नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है। और, जहाँ इन्हें सुखी तथा प्रसन्न रखा जाता है, वह कुल सदा सुख-समृद्धि से बढ़ता रहता है।

सन्तुष्टो भार्यया भर्ता भर्त्रा भार्या तथैव च ।
यस्मिन्नेव कुले नित्य कल्याण तत्र वै ध्रुवम् ॥

जिस कुल में स्त्री पति को तथा पति स्त्री को प्रसन्न रखते है, वहाँ सदा सुख-समृद्धि रहती है।

कुल के प्रत्येक सदस्य मे परस्पर एक दूसरे को प्रसन्न रखने की प्रवृत्ति आवश्यक है, पर गृहस्वामिनी और गृहस्वामी में परस्पर सौहार्द सब से अधिक जरूरी है। और तो ठीक हो सकते हैं, पर यहाँ यदि लडाई-झगड़ा हुआ, तो सम्पूर्ण कुल पर

इसका बुरा प्रभाव पड़ेगा। सन्तति पर भी वही प्रभाव पड़ कर अमिट हो जायगा और यों एक बुराई की परम्परा चलेगी। इसीलिए, कुल में स्त्री-पुरुष के स्नेह-सौहार्द पर सब से अधिक जोर दिया है।

त्रिया तु रोचमानाया सर्वं तद्रोचते कुलम्।
तस्यात्वरोचमानाया सर्वमेव न रोचते॥

—स्त्री के प्रसन्न रहने पर सम्पूर्ण कुटुम्ब प्रसन्न रहता है और उसके कुढ़ने पर सम्पूर्ण कुटुम्ब हीन-दीन हो जाता है, मुरझा जाता है। सब पर असर पड़ता है। घर में सदा स्त्री रहती है। पुरुष का रहना तो प्रायः बाहर होता है। फलत घर पर सब से अधिक प्रभाव भी इसी का पड़ता है।

७—अतिथि-सत्कार

आसनाशनशय्याभिरद्भिर्मूलफलेन वा।
नाऽस्यकश्चिद्वसेद्गेहे शक्तितोऽनर्चितोऽतिथि॥

—गृहस्थ के घर में यदि अतिथि आये, तो उसको प्रेम-पूर्वक बैठाना चाहिए, भोजन तथा आराम की सुन्दर व्यवस्था करनी चाहिए। और कुछ न हो, तो साग-पात अथवा पीने के लिए जल ही उपस्थित कर के उसका आदर करना चाहिए। शक्ति के अनुसार अतिथि-सत्कार गृहस्थ का कर्तव्य है। यह नहीं कि अतिथि को हलुवा-पूड़ी खिलाने के लिये रुपये उधार माँगते फिरो और अपने गरीब कुटुम्ब को उलझन में डाल दो। अपनी 'शक्ति' के अनुसार सत्कार करो।

न वै स्वय तदश्नीयादतिथिं यन्न भोजयेत्।
धन्य यशस्यमायुष्य स्वर्ग्यंचाऽतिथिपूजनम्।

—गृहस्थ को उचित है कि वह स्वयं ऐसी कोई बढ़िया चीज न खाय, जो अतिथि को न खिला सके। मान लो, तुम आध सेर दूध प्रति दिन पीते हो और अतिथि आने पर अधिक दूध लाने की शक्ति तुम में नहीं है, तो तुम भी उस दिन दूध मत पियो! हाँ, अतिथि को जो भोजन कराओ, तुम भी वही करो, ऐसी विधि नहीं है। अतिथि को गेहूं की रोटी खिला कर तुम चने की खा सकते हो।

अतिथि-सत्कार कर के गृहस्थ धन्य होता है, यश का भागी होता है, आयुष्मान् होता है और इसके अनन्तर उत्तम गति को प्राप्त होता है!

समाज-व्यवस्था के लिए ही अतिथि-सेवा का विधान है। कोई कहीं का व्यक्ति तुम्हारे गाँव में किसी काम से आया, जिस का वहाँ कोई जान-पहचान का भी नहीं, तो कहाँ जाय! उसको सुविधा देनी चाहिए। अन्यथा, तुम कहीं जाओगे, तो तुम्हें भी उसी संकट का सामना करना होगा; परन्तु—

पाखण्डिनो विकर्मस्थान् वैडालव्रतिकाञ्छठान्।
हैतुकान् बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणाऽपि नार्चयेत्॥

—यदि अतिथि के रूप में पाखण्डी लोग तुम्हारे यहाँ आयें, तो उनसे सीधे बोलना भी न चाहिए! उन्हें मुँह लगाना ठीक नहीं, बात ही न करनी चाहिए! यदि कोई 'विकर्मस्थ'—कुकर्मी

(चोर-बदमाश)—अतिथि के रूप में आ जाय, तो उसे भगा देना चाहिए। जो लोग बिलाव और बगले की तरह दाव-घात में रहते हैं, उनसे सावधान रहो। ऐसे लोग प्रायः अतिथि बन कर आ जाते हैं और सेवा करने वाले का नाश कर देते हैं। किसी विशेष 'हेतु' से, खास मतलब से, जो चक्कर काटते रहते हैं, उनसे बचो। ऐसे दुष्टों को—वाङ्मात्रेणाऽपि नार्चयेत्—अच्छी तरह बोल कर भी सम्मान न देना चाहिए! मयूरध्वज (मोरध्वज) ने कितनी बुद्धिहीनता का काम किया था। यदि कोई 'साधु' अपने साथ कुत्ता लाये और कहे कि यह तो मनुष्य का मांस खायगा तो उसे अतिथि समझ कर सम्मानित करना चाहिए, या राक्षस समझ कर गोली मार देनी चाहिए ? फिर माता-पिता द्वारा अपने बच्चे को आरे से चीर देना और आंसू न गिराने का भी प्रतिबन्ध। क्या यह सम्भावित है ? उन प्रक्षेपों में अतिथि-सेवा का अतिरेक कर दिया गया। उस अतिशयोक्ति से अधर्म को प्रोत्साहन मिला। ऐसी कहानियाँ सुन कर यदि कोई स्त्री किसी 'साधु (!) के कहने से अपने पति को जहर दे दे, तो ? वह 'साधु' कहे—मैं तो तब भोजन करूंगा, जब तू अपने पति को मार दे। तब यह स्त्री उसे 'साधु'-अतिथि समझ कर अपने पति को विष दे दे क्या ? मयूरध्वज की कहानी का असर तो यही है। ऐसी कहानियों को दूसरे रूप में ग्रहण करना चाहिए! जैसे वे लोग चक्कर में आ गये, उन धोखे की बातों में, उस तरह तुम कभी मत फसना! सावधान!

की है और इसे समाज के लिये अनिष्टकारी बताया है! सो सब आपके सामने ही है। जरूरत है इस सम्बन्ध में कानून बनने की। इस प्रवाह को रोकना ही चाहिए।

९—हमारा 'समाजवाद'

यात्रामात्रप्रसिध्यर्थं स्वै स्वैः कर्मभिरगर्हितै ।
अक्लेशेन शरीरस्य कुर्वीत धन-सञ्चयम् ॥

—गृहस्थ को धन-सञ्चय करना ही चाहिए—'कुर्वीत धन-सञ्चयम्'। 'आज खाय औ कल को झक्खै', उसको गोरख संग न रक्खै' यह निहंगों की बात है। गृहस्थ को तो अटके-भटके और दुखे-पिराने के लिये तथा बाल बच्चों को शिक्षा आदि के लिए धन यथाशक्ति जरूर ही बचाना-रखना चाहिए। परन्तु यह धन सञ्चय की प्रवृत्ति अधिक न बढ़ जानी चाहिए नहीं तो समाज का अहित होगा।

बेचने लग जाय। अपना काम छोड़ कर वैद्य का काम करने से वह पंसारी कितने ही रोगियों के प्राण ले सकता है और चीनी के रोजगार में फँस कर वैद्यजी पूरा ध्यान रोगी-चिकित्सा में न दे सकेंगे, फलत बेचारे रोगी बे-मौत मरेंगे। इसलिए वर्ण-साकर्य या कर्म-व्यत्यय ठीक नहीं। 'स्वैः स्वैः कर्मभिः' धन कमाना चाहिए।

हाँ, एक बात का ध्यान अवश्य रखना चाहिए। वह अपना कामगर्हित न होना चाहिए। मान लो, किसी के कुल में समाज-शोषण के काम चालू हैं तो समझदार व्यक्ति को चाहिए कि इस स्व-कर्म को 'गर्हित' समझ कर छोड दे, कोई अच्छा काम अपनाये जिससे अपना फायदा हो और समाज को हानि न पहुँचे, लाभ पहुंचे।

एक बात और। धन-संचय में ऐसा मगन न होना चाहिए कि शरीर-स्वास्थ्य खराब हो जाय। 'अक्लेशेन शरीरस्य'— शरीर को क्लेश—रोग आदि—से बचाते हुए ही धन-संचय का काम ठीक है। आवश्यक खर्च करते रहना चाहिए, शरीर के पोषक पदार्थों में कहीं कमी न हो कि धन जमा करना है। शरीर ही रोगी हो गया तब वह धन किस काम आवेगा?

१०—इन्द्रियों को वस में रखो

गृहस्थ को अपनी इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखना चाहिए—

इन्द्रियार्थेषु सर्वेषु न प्रसज्येत कामत।
अतिप्रसक्तिं चैतेषां मनसा संनिवर्तयेत्॥

की है और इसे समाज के लिये अनिष्टकारी बताया है! सो सव आपके सामने ही है। जरूरत है इस सम्बन्ध में कानून वनने को। इस प्रव ह को रोकना ही चाहिए।

६—हमारा 'समाजवाद'

यात्रामात्रप्रसिध्यर्थं स्वै. स्वै' कर्मभिरगर्हितै.।
अक्लेशेन शरीरस्य कुर्वीत धन-सञ्चयम् ॥

—गृहस्थ को धन-सञ्चय करना ही चाहिए—'कुर्वीत धन-सञ्चयम्'। 'आज खाय औ कल को झक्खै', उसको गोरख संग न रक्खै' यह निहंगों की बात है। गृहस्थ को तो अटके-भटके और दुखे-पिराने के लिये तथा बाल बच्चों को शिक्षा आदि के लिए धन यथाशक्ति जरूर ही बचाना-रखना चाहिए। परन्तु यह धन-सञ्चय की प्रवृत्ति अधिक न बढ़ जानी चाहिए, नहीं तो समाज का अहित होगा। उतना ही धन-सञ्चय करो, जितना कुटुम्ब के लिए जरूरी हो—'यात्रामात्रप्रसिध्यर्थम्'—जीवन-यात्रा की प्रकृत सिद्धि (सफलता) मात्र के लिए। अच्छी तरह जीवन-निर्वाह हो, इतना प्रयोजन, अधिक नहीं। इससे आगे बढ़ कर करोड़ अरबों इकट्ठा करके पूँजीपति बनने की भावना का निषेध है क्योंकि यह अधर्म है। किसी का पेट काटना पड़ेगा।

और वह धन-संचय अपने-अपने कामों से करना चाहिए। यह न हो कि किसी वैद्य को धनी देख कर कोई पंसारी वैद्यक करने लगे और वैद्य-डाक्टर राज्य से लाइसेंस प्राप्त करके चीनी

बेचने लग जाय। अपना काम छोड़ कर वैद्य का काम करने से यह पंसारी कितने ही रोगियों के प्राण ले सकता है और चीनी के रोजगार में फँस कर वैद्यजी पूरा ध्यान रोगी-चिकित्सा में न दे सकेंगे, फलत. बेचारे रोगी बे-मौत मरेंगे! इसलिए वर्ण-सांकर्य या कर्म-व्यत्यय ठीक नहीं। 'स्वः स्वे. कर्मभिः' चलना चाहिए।

हाँ, एक बात का ध्यान अवश्य रखना चाहिए। वह [illegible] समगर्हित न होना चाहिए। मान लो, किसी के कुल में समाज-शोषण के काम चालू है तो समझदार व्यक्ति को चाहिए कि इन स्व-कर्म को 'गर्हित' समझ कर छोड़ दे. और [illegible] अपनावे जिससे अपना फायदा हो और [illegible] लाभ पहुंचे।

—आँख को रूप और रसना को मधुर स्वाद, इसी तरह अन्य इन्द्रियों को अपने-अपने विषय चाहिए, सो ठीक। प्राकृतिक बात है। परन्तु मनुष्य ने प्रकृति पर नियन्त्रण किया है। निर्बाध विषय-विचरण को कुछ सीमित किया है। उचित-अनुचित का विवेक इसमें है। इस लिए मनु जी का उपदेश है—

इन्द्रियों के विषयों में—रूप-रस आदि में—स्वेच्छाचारिता से लीन न हो जाना चाहिए—'कामतः न प्रसज्येत।' किसी की अच्छी चीज रखी है और तुम्हारी जीभ रोके न रुकी, उठा कर खा गये तो समझो कि परिणाम क्या होगा। तुम पकड़े जाओगे, बे-इज्जती होगी। हाँ, अपनी चीज है, तब और बात है। सो, इन विषयों में 'कामाचार' या स्वेच्छाचारिता पाप है। यही नहीं, अपनी चीज में भी नियन्त्रण जरूरी है। 'अतिप्रसक्ति' भी वर्जित है। अपनी मिठाई है, शरीर भी नीरोग है, परन्तु तो भी इतनी न खा लो कि हजम न हो और बीमार पड जाओ। 'अतिप्रसक्ति' यदि किसी विषय में हो तो—'मनसा सन्निवर्तयेत्' मन से उसे हटाना चाहिए। मन से परिणाम सोचना चाहिए। तब नियन्त्रण हो जायगा। मौत सामने दिखा देने से कोई भी वैसी 'अतिप्रसक्ति' न करेगा और यह परिणाम अपने मन से सोचने पर ही काम देगा। दूसरे के समझाने से काम न चलेगा।

११—वेश-विन्यास और रहन-सहन

वयस कर्मणोऽर्थस्य श्रुतस्याभिजनस्य च।
वेश वाग्-बुद्धि-सारूप्यमाचरन् विचरेदिह॥

—अपनी आयु, काम, धन तथा विद्या के अनुसार ही मनुष्य को अपना पहनावा, बोल-चाल तथा समझदारी प्रकट करके संसार-यात्रा करनी चाहिए। न अधिक प्रदर्शन और न कुछ छिपाव। ऐसा न चाहिए कि कहीं विलक्षणता आ जाय! बुढ़ापे में कोई स्त्री गोटा-पट्टा लगा कर चमकदार अपनी पोशाक बनावे और पहन कर झूमती हुई निकले, तो कैसा लगेगा? थोड़ी उम्र का लड़का बड़े लोगों में बैठ कर बड़ी-बड़ी बातें करे तो अच्छा लगेगा क्या? तीस रुपये मासिक पानेवाला चपरासी पचास की घड़ी हाथ में बांध कर और पचीस रुपये का फाउण्टेन पेन जेब में लगा कर चले, तो? चोर समझा जायगा। इसी तरह 'अभिजन' (कुल) के अनुसार चलने का प्रयत्न करना चाहिए। पहनावे आदि में इसका भी ध्यान रखना चाहिए। मतलब यह कि सामञ्जस्य रखना ठीक है।

१२—स्वाध्याय

गृहस्थ को अपने अन्य कार्यों से थोड़ा समय बचा कर स्वाध्याय नित्य जारी रखना चाहिए। रंगीली और रसीली कहानियां पढ़ने में समय का दुरुपयोग 'स्वाध्याय' नहीं है। वह औषध नहीं है, शराब है। स्वाध्याय इन विषयों का करना चाहिए—

बुद्धिवृद्धिकराण्याशु धन्यानि च हितानि च।
नित्यं शास्त्राण्यवेक्षेत निगमांश्चैव वैदिकान्॥

—जिन ग्रन्थों से अपनी बुद्धि को सत्प्रेरणा मिले, बुद्धि तीक्ष्ण हो, ऐसे ग्रन्थ पढ़ो ; तर्कशास्त्र, मनोविज्ञान आदि। 'धन्यानि'— ऐसे शास्त्र पढ़ो, जिनसे धन पैदा करने मे मदद मिले और हितकारक धर्मशास्त्र आदि का अध्ययन करो। अपने वैदिक साहित्य का अध्ययन करो, जहाँ से हमे मूल प्रेरणा मिलती है।

ऐसा न होना चाहिए कि बी० ए०, एम० ए०, हो गये और नौकरी करने लगे ; कृतार्थ हो गये। पढ़ना-लिखना बन्द ! ऐसा करने से बुद्धि कुण्ठित हो जायगी। बुद्धि को भोजन (स्वाध्याय) मिलेगा तो वह बढ़ेगी। मनु का अगला श्लोक है—

यथा यथा हि पुरुष शास्त्र समधिगच्छति।
तथा तथा विजानाति विज्ञान चाऽस्य रोचते॥

—जैसे-जैसे पुरुष आगे उत्तम-उत्तम विषयों के ग्रन्थ पढ़ता जाता है, वैसे-ही-वैसे उसकी जानकारी विशेप बढ़ती जाती है और पहले से जो जानकारी है, वह अधिक खिलती जाती है, परिष्कृत होती जाती है।

जो विषय तुमने एम० ए० या 'साहित्य-रत्न' मे पढ़े थे, उनमे उस समय 'इति' तो नहीं हो गयी थी न। चञ्चु-प्रवेश हुआ समझिए। वैसी बड़ी पदवी (एम० ए० आदि) देख कर भ्रम में न पड़ना चाहिए। ज्ञान अनन्त है। जिन विषयों का कुछ ज्ञान उन परीक्षाओं मे हुआ, उनमे अधिक स्पष्टता आयेगी, यदि अपना स्वाध्याय जारी रखोगे। नये विषय भी ज्ञात होंगे। इसलिए 'स्वाध्याय' गृहस्थ का धर्म है।

१३—कुछ नागरिक कर्तव्य

नाप्सु मूत्रं पुरीषं वा ष्ठीवनं वा समुत्सृजेत्।
अमेध्यलिप्तमन्यद्वा लोहितं वा विषाणि वा॥

—पानी मे पेशाब या पाखाना न डालना चाहिए, न थूक-खखार ही उसमे फेंकना चाहिए और भी कोई चीज (वस्त्रादि) जो गन्दगी से लिप्त हो, पानी मे मत डालो। खून या कोई विषैली चीज पानी मे कभी भी मत छोडो।

आज कल के 'शिष्ट-शिरोमणि' और 'पेटेण्ट नागरिक' (शहराती लोग) वह सब कुछ करते है, जो मनु ने मना किया है। आप मजे से फ्लश के चमचमाते हुए पाखाने बनवा कर सब गन्दगी नदियों मे गिराते है। लाखो मन पाखाना नदी मे मिलता रहता है और आगे बेचारे ग्रामीण वही जल पीते है। यही आज की वह समाज-व्यवस्था और नागरिकता है, जिस पर लोग गर्व करते है। कहते है—'मनुष्य को हम समान अधिकार देते है। किस चीज का अधिकार? वोट देने का। पाखाना बेचारों के पेट मे उड़ेलते है और समानता का अधिकार देते है।

क्या विज्ञान कोई ऐसा आविष्कार नहीं कर सकता कि यह गन्दगी नदियो मे न गिरे? क्या इस गन्दगी को किसी काम और कहीं नहीं खपाया जा सकता है? सिंचाई से बचे गन्दे पानी को कहीं अन्यत्र खपाना चाहिए।

—जिन गन्थों से अपनी बुद्धि को सत्प्रेरणा मिले, बुद्धि तीक्ष्ण हो, ऐसे ग्रन्थ पढ़ो ; तर्कशास्त्र, मनोविज्ञान आदि। 'धन्यानि'— ऐसे शास्त्र पढ़ो, जिनसे धन पैदा करने में मदद मिले और हितकारक धर्मशास्त्र आदि का अध्ययन करो। अपने वैदिक साहित्य का अध्ययन करो, जहां से हमे मूल प्रेरणा मिलती है।

ऐसा न होना चाहिए कि बी० ए०, एम० ए०, हो गये और नौकरी करने लगे, कृतार्थ हो गये। पढ़ना-लिखना बन्द। ऐसा करने से बुद्धि कुण्ठित हो जायगी। बुद्धि को भोजन (स्वाध्याय) मिलेगा तो वह बढ़ेगी। मनु का अगला श्लोक है—

यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति।
तथा तथा विजानाति विज्ञानं चाऽस्य रोचते॥

—जैसे-जैसे पुरुष आगे उत्तम-उत्तम विषयों के गन्थ पढ़ता जाता है, वैसे-ही-वैसे उसकी जानकारी विशेष बढ़ती जाती है और पहले से जो जानकारी है, वह अधिक खिलती जाती है, परिष्कृत होती जाती है।

जो विषय तुमने एम० ए० या 'साहित्य-रत्न' मे पढ़े थे, उनमे उस समय 'इति' तो नहीं हो गयी थी न। चञ्चु-प्रवेश हुआ समझिए। वैसी बड़ी पदवी (एम० ए० आदि) देख कर भ्रम मे न पड़ना चाहिए। ज्ञान अनन्त है। जिन विषयों का कुछ ज्ञान उन परीक्षाओं मे हुआ, उनमे अधिक स्पष्टता आयेगी, यदि अपना स्वाध्याय जारी रखोगे। नये विषय भी ज्ञात होंगे। इस-लिए 'स्वाध्याय' गृहस्थ का धर्म है।

१४—राजा का प्रतिग्रह

विद्वान् द्विज या समाज-सेवक को भी राजाश्रय ग्रहण न करना चाहिए; क्योंकि यदि ऐसा होगा, तो फिर कुछ दवाब-प्रभाव उसका अवश्यम्भावी है। तब फिर उसके अन्याय का विरोध कौन करेगा? द्रोणाचार्य और भीष्म पितामह जैसे लोगों का मुँह भी इसी राजान्न ने बन्द कर दिया था। वे द्रौपदी का अपमान देख कर कुढ़ते रहे; पर बोल न सके। दुर्य्योधन के आश्रय में जो थे। सो, समाजसेवी विद्वान को चाहिए कि किसी भी राजा (या 'सरकार') का आश्रय ग्रहण न करे। कोई अच्छा राजा भी किसी समय दुष्टता कर सकता है। इसलिए, कभी भी राजान्न ग्रहण न करे, सरकारी नौकरी न करे। जिसे जनता की सेवा से वैसा कोई मतलब नहीं, उसकी बात दूसरी है। मनु जी ने 'ब्राह्मण' के लिए राज-प्रतिग्रह निषेध किया है। और, जब कि राजा पहले ही से दुष्ट हो, तब तो बिल्कुल ही उससे दूर रहना चाहिए। मनु-वाक्य है—

> यो राज्ञ प्रतिगृह्णाति लुब्धस्योच्छास्त्रवर्तिन ।
> स पर्य्यायेण यातीमान्नरकानेकविंशतिम् ॥

—जो विद्वान् लुब्धक (लोभी या 'चिड़ीमार') तथा शास्त्र विरोधी करने वाले राजा का प्रतिग्रह (काम के बदले वेतन-पुरस्कार आदि) लेता है, वह एक के बाद दूसरे नरक मे घूमता है और इक्कीस नरकों मे यातना पाता है !

१६—स्नान निषेध

हमारे यहाँ स्नान का बड़ा महत्त्व है। गरम देश
परन्तु कभी-कभी स्नान न करना भी 'धर्म' है—

न स्नानमाचरेद् भुक्त्वा नातुरो न महानिशि।
न वासोभिः सहाजस्रं नाऽविज्ञाते जलाशये॥

—भोजन के अनन्तर तुरन्त स्नान न कर लेना
किसी वैसे बड़े रोग में भी स्नान करना ठीक नहीं, जिससे
बढ़ जाने का डर हो। रात में नौ बजे के बाद और तीन
से पहले, नौ से तीन तक, स्नान करना मना है। इस
समय को 'महानिशा' कहते है। कारण, पहला पहर और च
पहर तो काम करने और जागने का ही है। अज्ञात जला
मे और बहुत कपड़े पहन कर नहाना ठीक नहीं! तैरने में भं
पैदा करते है अधिक कपड़े। हाथ-पाँव उलझ-बँध जाते है। य
पाँव सरक गया, या किसी तरह चक्कर में आ गये, तो तैर व
निकल सकते है, किन्तु ढीले-ढाले अधिक कपड़े पहने हुए र
कठिनता पैदा होगी।

मनु जी ने इस तरह के शतशः और सहस्रशः उपदेश दिये
है।

१७—आचार और दुराचार

आचाराल्लभते ह्यायुदाराचारादीप्सिता प्रजा।
आचाराद्धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम्॥

से मतलब कि संयमी जन 'ईप्सित' सन्तान प्राप्त करते हैं—जितनी चाहें। आचरण अच्छे होने से अक्षय धन भी मिलता है। सचाई हो, तो व्यापार चलता है। ईमानदारी हो, तो ऊँचे पद मिलेंगे। आचरणहीन—झूठे-बेईमान—सदा भटकते ही फिरते है। 'ब्लैक मार्केट' करके धन पैदा भी कर लिया, तो पकड़े जाने पर एक झटके में, एक बड़े जुर्माने में, सब निकल जायगा। आचार से 'अलक्षण' भी दूर होते है। 'अलक्षण' का अर्थ है शारीरिक या मानसिक त्रुटि। आचरण अच्छे हैं, पर आप विद्वान् नहीं हैं, तो आपके आचरण से विद्याहीनता की त्रुटि पर पर्दा पड़ जायगा। लोग कहेंगे, पढ़ा-लिखा नहीं, तो क्या, बडा अच्छा आदमी है। इसी तरह शरीर सुन्दर न हो, रँग काला हो, मुँह में शीतला के दाग हों, जो भी हो, यदि आचरण अच्छे हैं, तो सब पर पर्दा। उधर लोग ध्यान ही नहीं देगें।

इसके विपरीत—

> दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः।
>
> दु खभागी च सतत व्याधितोऽल्पायुरेव च ॥

—दुराचारी लोगों की चारो ओर निन्दा होती है। ऐसे लोग सदा ही दुखी रहते हैं, शारीरिक रोग तो घेरे ही रहते है—इंजेक्शनों से शरीर छिदता ही रहता है। सड जाते हैं! जेल में देखा, पचास प्रतिशत चरित्रहीन कैदी सुजाक-गरमी के घिनौने रोगों से सड़ रहे है। ऐसे लोग उम्र भी अच्छी नहीं पाते है।

१८—स्वतन्त्रता ही सुख है

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्।
एतद्विद्यात्समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः॥

दूसरे के अधीन जो कुछ हो, दुःख है और अपने हाथ में जो हो, उसी में सुख है। बस, संक्षेप से यही दुःख और सुख का स्वरूप है।

यह साधारण जीवन के विषय में है। वैसे राष्ट्र के सामाजिक जीवन में जो नियमों का बन्धन है, उसे 'परवशता' नहीं कहा गया है। वह तो धर्मानुशासन है। अनुशासन में स्वतः बन्धन तो सुख का कारण है। हाँ रोटी-पानी मे स्वाधीनता सुखकर है और पराधीनता कष्टकर। 'रूखी-सूखी खायकर ठंढा पानी पी! देख पराई चेपडी मन ललचावे जी।' अपने आप में मस्त! 'अपना हुक्का अपनी मरोड, पिया तो पिया, नहीं दिया फोड।'

पर इसका यह भी तात्पर्य नहीं कि सदा सब कामों मे अपनी अलग खिचड़ी पकाओ! 'सम्भूय समुत्थान'—मिल कर उन्नति करने का ही तो धर्मोपदेश है। बडे काम और बड़े व्यवसाय अकेले नहीं चलते है। ऊपर के श्लोक मे अपने व्यक्तिगत जीवन की स्वतन्त्रता ही को सुख कहा है। उसमे बाधा पडे तो असह्य दुःख जान पडता है; बस!

और:—

यद्यत्परवशं कर्म तत्तद्यत्नेन वर्जयेत्।
यद्यदात्मवशं तु स्यात्तत्सेवेत यत्नतः॥

से मतलव कि संयमी जन 'ईप्सित' सन्तान प्राप्त करते है—जितनी चाहें। आचरण अच्छे होने से अक्षय धन भी मिलता है। सचाई हो, तो व्यापार चलता हैं। ईमानदारी हो, तो ऊँचे पद मिलेंगे। आचरणहीन—झूठे-बेईमान—सदा भटकते ही फिरते है। 'ब्लैक मार्केट' करके धन पैदा भी कर लिया, तो पकड़े जाने पर एक झटके में, एक बड़े जुर्माने में, सब निकल जायगा। आचार से 'अलक्षण' भी दूर होते है। 'अलक्षण' का अर्थ है शारीरिक या मानसिक त्रुटि। आचरण अच्छे है, पर आप विद्वान् नहीं है, तो आपके आचरण से विद्याहीनता की त्रुटि पर पर्दा पड़ जायगा। लोग कहेंगे, पढा-लिखा नहीं, तो क्या, बड़ा अच्छा आदमी है। इसी तरह शरीर सुन्दर न हो, रंग काला हो, मुँह मे शीतला के दाग हों, जो भी हो, यदि आचरण अच्छे है, तो सब पर पर्दा। उधर लोग ध्यान ही नहीं देंगे।

इसके विपरीत—

> दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दित·।
> दुःखभागी च सतत व्याधितोऽल्पायुरेव च॥

—दुराचारी लोगों की चारो ओर निन्दा होती है। ऐसे लोग सदा ही दुखी रहते है, शारीरिक रोग तो घेरे ही रहते है—इंजेक्शनों से शरीर छिदता ही रहता है। सड़ जाते हैं! जेल में देखा, पचास प्रतिशत चरित्रहीन कैदी सुजाक-गरमी के घिनौने रोगों से सड़ रहे है। ऐसे लोग उम्र भी अच्छी नहीं पाते है।

के वर्तमान महक़मे को यदि तुम अशिष्ट समझते हो, तो उसमें नौकरी करने पर असफल रहोगे। अध्ययन में रुचि है, तो अध्यापक बनो। इसी तरह सर्वत्र समझो।

इस कसौटी से पाप-पुण्य भी जाने जाते हैं। जिस काम के करने मे आत्म-सन्तोष मिले, वह धर्म और जिसे आत्मा न माने, वह अधर्म। धर्म है कर्तव्य और अधर्म अकर्तव्य! आत्म-विरुद्ध काम यदि स्वार्थान्धता आदि से किये जायँ, तो वह 'आत्म-हत्या' है। 'आत्मा' मर जाता है और फिर रोकने वाला कोई रहता नहीं। इसीलिए 'आत्म-हत्या' को सब पापों से वड़ा पाप माना है!

२०—संन्यास कब?

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्।

अनपाकृत्य मोक्ष तु सेवमानो व्रजत्यध।

—गृहस्थाश्रम में विधिवत् रह कर और तीन ऋण जो ऊपर हैं, उन से उऋण होकर मोक्ष में—संन्यास में—मन दे! तीन ऋणों को उतारे बिना जो संन्यासी बनता है, वह नीचे जाता है, पतित है।

लोग जो सोलह-सोलह वर्ष के लड़के को संन्यासी बना देते हैं, वे क्या करते हैं! बहुत से पढ़े-लिखे बी० ए०, एम० ए० लोग युवावस्था में ही कपड़े रँग कर बैठ जाते है! जो संन्यासी 'रामकृष्ण सेवाश्रम' जैसी संस्थामें रह कर जन-सेवा करते हैं,

—जो भी काम अपने वस का न हो, उसे अंगीकार मत करो, उसकी जिम्मेदारी मत लो और जो काम तुम्हारे वस का हो, उसे सॅभालो और बड़े यत्न से सॅभालो !

कहने का मतलव यह कि यदि प्रेस का काम नहीं जानते, तो कहीं सस्ता विकता देख खरीद मत लो ! चक्कर मे पड जाओगे । मशीन मैन और दूसरे लोग तंग कर देंगे ; दिवाला निकाल देंगे । मैं इस चक्कर में पड़ चुका हूं । प्रेस मेरे लिये प्रेत हो गया ! जैसे-तैसे वेच कर जान वचायी । इसी तरह और काम हैं । खेती का काम नहीं जानते, तो वह भी नौकरों के भरोसे नहीं कर सकते । मुंशी न सॅभाल लेंगे ! सार्वजनिक कामों में भी यदि तुम किसी संस्था के कामों से परिचित नहीं, तो मंत्री आदि का पद मत सॅभाल लो । यदि ज्ञान तथा शक्ति है, तो वैसे काम सॅभालो, दूसरों के भरोसे नहीं। और जब सँभाल लो, तो सब तरह से 'यत्नतः' उसे पूरा करो ।

१६—आत्म-सन्तोष हो, तो....

यत्कर्म कुर्वतोऽस्य स्यात्परितोषोऽन्तरात्मनः ।
तत्प्रयत्नेन कुर्वीत, विपरीत तु वर्जयेत् ॥

—जिस काम को करते समय अन्तरात्मा सन्तुष्ट हो, उसी में यत्न-पूर्वक जुट जाना चाहिए और जिसमें मन साथ न दे, उसमें हाथ मत डालो ! जब मन ही साथ न देगा, तो काम क्या होगा ! प्रवाह के विरुद्ध नाव ले जाना ठीक नहीं । पुलिस

होने की इच्छा करे—पुत्र को अपने से आगे बढ़ाने की प्रवृत्ति रखे। इस के लिये भर-पूर चेष्टा करे। अपनी सुयोग्य सन्तान कुल को देना ही 'पितृ-ऋण' से छुटकारा पाने का साधन है।

देव-ऋण—जो लोग आज-कल 'हिन्दू' कहलाते हैं किसी समय वे 'आर्य' कहलाते थे और उससे भी पहले 'देव' कहलाते थे इनके पुरखों 'देव' जनों मे और 'पारसी' लोगों के पुरखों 'असुरों' में जो संग्राम हुआ था, वही 'देवासुर-संग्राम' है। देव और असुर सब एक ही समाज के थे, जो बाद मे विभक्त हो गये थे।

खैर, 'देव' इनका पुराना नाम है। 'देव-ऋण' चुकाना धर्म है। अर्थात् हमारे ऊपर जो समाज का ऋण है, उसे भी चुकाना चाहिए। जैसे हम माता-पिता से उपकृत होते है, उसी तरह समाज से भी। अनेक बातों में समाज के हम ऋणी हैं। इस लिए, गृहस्थाश्रम मे रहते हुए समाज-सेवा के काम भी हमें निरन्तर अपनी शक्ति के अनुसार करते रहना चाहिए। तभी 'देव-ऋण' से छुटकारा मिलेगा।

ऋषि-ऋण—बहुत बड़ा है। हमे ऋषियों ने जो ज्ञान दिया है, बड़ी तपस्या कर-करके जो वेद तथा एक-से-एक बढ़ कर 'दर्शन' उन्होंने दिये है और परवर्ती [illegible]नों ने जो आयुर्वेद, ज्योतिष, गणित तथा [illegible] [illegible]स्त्र [illegible] हमे दी है, [illegible] विकास

उनकी बात अलग है, पर जो लोग किसी मठ-मन्दिर में सोने के सिंहासन पर बैठ कर पुजने के लिए ही वह सब करते है, वे तो अवश्य पतन की ओर जाते है। गृहस्थाश्रम में जरूर रहना चाहिए, यह मनु ने जोर देकर कहा है। आलसी और कायर लोग 'यदहः विरज्येत तदहः परिव्रजेत्'—'जिस दिन वैराग्य हो जाय, उसी दिन संन्यास ले ले' कह कर अपने आप को तथा जनता को धोखा देते है। वैराग्य होता किसे है? किस चीज से वैराग्य होता है? वह सब तो सामने नजर आता है।

तीन ऋण १—पितृ-ऋण, २—देव-ऋण और ३—ऋषि-ऋण। हमारे ऊपर '*पितृ-ऋण*' है। माता-पिता ने हमारा पालन-पोषण किया है और शिक्षा आदि से सुसंस्कृत किया है। हमे इस ऋण से उऋण होना है। हम अपने प्रतिनिधि समाज को अपने से अच्छे दें, तो उस ऋण से मुक्त हों। प्रत्येक स्त्री-पुरुष अपने बच्चों का इस ढंग से शारीरिक तथा मानसिक विकास करने मे तत्पर हो कि वे उस से सब बातों मे अच्छे हों। मा चाहे कि मेरी लड़की सब बातों में मुझ से अच्छी हो, शरीर-स्वास्थ्य में, विद्या मे, आचार मे और शील-सौजन्य मे। इसी तरह पिता अपने पुत्र के लिए कामना करे।—'सर्वेभ्यो जयमिच्छेत्तु पुत्रादिच्छेत्पराजयम्'—मनुष्य को चाहिए कि वह अपने विषय मे तथा आचार मे सब से ऊंचा उठने की सदा इच्छा करे, सब को पीछे कर देने की कामना करे, परन्तु पुत्र से पराजित

होने की इच्छा करे—पुत्र को अपने से आगे बढ़ाने की प्रवृत्ति रखे। इस के लिये भर-पूर चेष्टा करे। अपनी सुयोग्य सन्तान कुल को देना ही 'पितृ-ऋण' से छुटकारा पाने का साधन है।

देव-ऋण—जो लोग आज-कल 'हिन्दू' कहलाते है किसी समय वे 'आर्य' कहलाते थे और उससे भी पहले 'देव' कहलाते थे इनके पुरखों 'देव' जनों मे और 'पारसी' लोगों के पुरखों 'असुरों' में जो संग्राम हुआ था, वही 'देवासुर-संग्राम' है। देव और असुर सब एक ही समाज के थे, जो बाद मे विभक्त हो गये थे।

खैर, 'देव' इनका पुराना नाम है। 'देव-ऋण' चुकाना धर्म है। अर्थात् हमारे ऊपर जो समाज का ऋण है, उसे भी चुकाना चाहिए। जैसे हम माता-पिता से उपकृत होते हैं, उसी तरह समाज से भी। अनेक बातों में समाज के हम ऋणी है। इस लिए, गृहस्थाश्रम मे रहते हुए समाज-सेवा के काम भी हमे निरन्तर अपनी शक्ति के अनुसार करते रहना चाहिए। तभी 'देव-ऋण' से छुटकारा मिलेगा।

ऋषि-ऋण—बहुत बडा है। हमे ऋषियों ने जो ज्ञान दिया है, बडी तपस्या कर-करके जो वेद तथा एक-से-एक बढ कर 'दर्शन' उन्होने दिये हैं और परवर्ती विद्वानों ने जो आयुर्वेद, ज्योतिष, गणित तथा साहित्यशास्त्र आदि की निधि हमे दी है, उससे हम कितने उपकृत हुए हैं। हमारा सांस्कृतिक विकास

उन ऋषियों की तपस्या का फल है। उनका जो अतुल ऋण हमारे ऊपर है, उससे उऋण होनेका यही उपाय है कि उनकी उस निधि को हम बढ़ायें। कुछ उत्तम साहित्य पैदा करें, जिससे समाज को किसी दिशा में बल मिले। सत्साहित्य के निर्माण में जो व्यक्ति तथा संस्थाएँ काम कर रही हों, उन्हें सहयोग और सहायता दें। इस तरह ऋषि-ऋण से कुछ हलके होंगे।

गृहस्थ को इन तीन ऋणों से मुक्त होना चाहिए, या इन तीन ऋणों से छूटने के लिए गृहस्थाश्रम स्वीकार करना चाहिए। जो इस कर्तव्य से डर कर भागते है और गृहस्थाश्रम को बीच में छोड़ सन्यास में जा कूदते है, उन्हें मनु जी ने पतित बताया है— समाज का बोझ!

ऊपर जिन तीन ऋणों का जिक्र हुआ, उनमें समाज ही मुख्य है। माता-पिता भी समाज के ही अङ्ग है और ऋषि-जन भी समाज मे आ जाते है। इसलिए, 'देव-ऋण' में ही सब आ जाने से तीन जगह उस ऋण को दिखाना कुछ विशेष बात नहीं, पर साधारण समाज से माता-पिता का महत्त्व बहुत अधिक है; इसलिए 'पितृ-ऋण' की गिनती अलग की। इसी तरह ऋषि-जन भी साधारण समाज में नहीं रखे जा सकते। इसीलिए इन दोनो ऋणों का पृथक् उल्लेख है।

इन ऋणों को गृहस्थाश्रम में हल करना बहुत जरूरी बतलाया गया है। जो इन पर ध्यान न दे कर केवल उदर भरने में ही

लगा रहता है, उसे 'गृहस्थ' नहीं, वन्य-प्राणी कहा गया है। कुछ लोग इन ऋणों का और इनसे निष्कृति का अर्थ कुछ-का-कुछ करते-समझते हैं! पर अर्थ तो बिलकुल स्पष्ट है।

२१—राज-सत्ता का प्रादुर्भाव

अराजके हि लोकेऽस्मिन् सर्वतो विद्रुते भयात्।
रक्षार्थमस्य लोकस्य राजानमसृजत्प्रभु ॥

—जब संसार मे कोई राजकीय संस्था न थी, तो भय और आतङ्क के मारे लोग त्रस्त रहते थे। तब इस (मानव-संस्था) की रक्षा के लिए भगवान् ने शासन-सत्ता को जन्म दिया। भगवान् ने ऐसी बुद्धि दी, जिससे मनुष्य ने संसार मे शासन-सत्ता स्थापित की।

इसके बाद मनु ने बड़े विस्तार से राज-नीति का वर्णन किया है। देख कर आश्चर्य होता है, उस युग मे हमारे पूर्वज ऐसे नीति निपुण थे। शासक मे क्या-क्या बात होनी चाहिए, प्रजा की रक्षा किस तरह करनी चाहिए, शासन-परिषद् जिन सात-आठ राजनीतिज्ञों की बनायी जाय उनमे क्या-क्या गुण अपेक्षित है, शत्रु पर कब और कैसे चढाई करनी चाहिए, किले कहाँ बनाने चाहिए और उनकी रक्षा कैसे करनी चाहिए, इन सब विषयों का विशद वर्णन 'मनुस्मृति' में है।

२२—पापों का प्रायश्चित्त

मनुष्य के पाप प्रायश्चित्त से नष्ट हो जाते हैं। यदि किसी पाप-कर्म मे प्रवृत्ति हो गयी और फिर मनुष्य सावधान हो गया,

प्रायश्चित्त उसने किया, तो उस पाप से निवृत्ति हो जायगी-'
वह काम न करेगा! मनुजी का मनोविज्ञान से पोषित मत!

यथा-यथा मनस्तस्य दुष्कृतं कर्म गर्हति।
तथा तथा शरीरं तत्तेनाधर्मेण मुच्यते॥

—जैसे-जैसे मन उस पाप को बुरा समझेगा, वैसे-वैसे
शरीर उससे मुक्त होता जायगा! मन में यदि चोरी के
गर्हा पैदा हो गयी, तो फिर हाथ उस काम को करेंगे ही न
और—

कृत्वा पापं हि सन्तप्य तस्मात्पापात्प्रमुच्यते।
'नैव कुर्यां पुनरिति' निवृत्त्या पूयते तु सः॥

— किसी बुरे काममें पड़ जाने पर यदि मनुष्यकी अन्त
उससे सन्तप्त हुई, हार्दिक पश्चात्ताप उसे हुआ तो वह उस प
अवश्य छूट जाता है। और फिर 'अब कभी ऐसा न क
इस तरह का दृढ़ निश्चय यदि उसने कर लिया, तो पवि
जाता है—पाप उसका छूट जाता है।

अज्ञानाद्यदि वा ज्ञानात्कृत्वा कर्म विगर्हितम्।
तस्माद्विमुक्तिमन्विच्छन् द्वितीयं न समाचरेत्॥

—यदि जाने-अजाने कोई गर्हित काम हो जाय, तो
छुटकारा पाने के लिए सबसे अच्छा उपाय यह है कि उस
का दूसरा काम फिर न करे।

२३—स्त्री-कर्तव्य

सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया।
सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चाऽमुक्तहस्तया॥

—स्त्री को—गृहिणी को—सदा प्रसन्न रहना चाहिए। गृह-प्रबन्ध इसका मुख्य काम है ; इसलिए अपना सम्पूर्ण चातुर्य्य उसे यहाँ लगा देना चाहिए। घर की सब चीजें अत्यन्त परिष्कृत रूप मे सजावट के साथ रखना गृहिणी का सुन्दर काम है। खर्च मे खुला हाथ ठीक नहीं। सोच-समझ कर जरूरी ही खर्च करना चाहिए। गृहिणी का कौशल व्यय में ही देखा जाता है। आय का काम पुरुष के जिम्मे है, जिसमे उतनी बुद्धिमानी अपेक्षित नहीं है, जितनी व्यय मे ; जो गृहिणी का काम है।

स्त्री-धर्म का भी वर्णन मनु ने विस्तार से किया है। सब से अधिक राजा के धर्म (कर्त्तव्य) का निर्देश है, क्योंकि वही तो समाज का नियामक है। राजा भ्रष्ट हो, शासन-कर्ता ही यदि भ्रष्टाचार मे डूबे हों, तो वे समाज को क्या ठीक रास्ते पर लायेंगे। मनु ने राज-सभा (असेम्बली) तथा उसके सदस्यों के कर्त्तव्य-निर्देश भी किये हैं। मनु के धर्म-निर्देश का क्या स्वरूप है, इन श्लोकों से स्पष्ट है।

तृतीय अध्याय

उत्सर्ग और अपवाद

पहले कहा जा चुका है कि धर्म विधि-निषेध-रूप से द्विधा विभक्त है। दुखियों पर दया करनी चाहिए, विधि है। चोरी न करनी चाहिए, निषेध है। ऐसे नियम बनाये हैं मनुष्य ने, समाज के सुख-सञ्चालनार्थ। प्रकृति पर उसने नियन्त्रण किया है। सत्य और अहिंसा आदि प्रमुख अङ्ग हैं धर्म के। इनके बिना समाज चल ही नहीं सकता। यदि लोग सचाई बिलकुल छोड दें और एक-दूसरे को मारने-काटने लगें, तो क्या होगा? यह धर्म जितना ही अधिक जिस देश मे होगा, वहाँ उतना ही जीवन का अभ्युदय होगा। परन्तु इन नियमों के अपवाद भी हैं और वे अपवाद भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं, प्रत्युत कभी-कभी मुख्य नियम से उसके अपवाद में ही अधिक बल आ जाता है। इसका मतलब यह हुआ कि कभी-कभी असत्य तथा हिंसा भी धर्म हो जाते हैं। हाँ, हो जाते हैं। यही नहीं, क्रोध, लोभ तथा मोह आदि जिन भावों की बड़ी निन्दा की गयी है, वे भी कभी-कभी धर्म का रूप ग्रहण कर लेते है और सत्य, अहिंसा तथा क्षमा का अनुचित प्रयोग अधर्म बन जाता है! विष भी कभी

अमृत बन जाता है। किसी-किसी रोग मे डाक्टर विप-विशेष का इञ्जेक्शन दे कर रोगी के प्राण बचा लेता है और दूध-घी जैसे अमृत पदार्थ भी स्थिति-विशेष मे और अनुचित प्रयोग से हानिकारक हो जाते हैं। परन्तु विप है विप ही। उससे सदा बचने को कहा जाता है, तब तो यह दशा है कि लोग भांग, गांजा, चरस और अफीम ही नहीं, संखिया तक खाने का शौक रखते हैं और शरीर तथा मस्तिष्क का नाश करते है, फिर यदि उनसे कह दिया जाय कि 'विप अमृत का भी काम देता है' तो क्या होगा? कुछ ठिकाना रहेगा? जब हिंसा, झूठ, धोखेबाजी आदि से बचने का एकान्त प्रतिपादन है, तब तो दुनिया मे सब इस बुरी तरह फैल रहे हैं, यदि कह दिया जाय कि कभी-कभी हिंसा और असत्य भी धर्म हो जाते हैं, तो फिर आप समझ सकते है कि क्या हो सकता है। इसीलिए साधारण जनता के सामने दूसरा रूप नहीं रखा जाता है। विप को डाक्टर अलमारी मे बन्द करके और ताला लगा कर कुञ्जी अपने पास रखता है। इसी तरह हिंसा आदि का विप समाज का चिकित्सक (शासक) अपने हाथ मे रखता है। जब जरूरत होती है, समाज की रक्षा के लिए इसका प्रयोग करता है। राष्ट्र के भीतर उपद्रव करनेवाले चोर-डाकुओ के प्रति वह दण्ड-प्रयोग करता है, जो एक हिंसात्मक उपाय है। कोई किसी को मार देता है, तो राज-सत्ता उसे मृत्यु-दण्ड देती है। यह हिंसा या प्रतिहिंसा जो शासन-सत्ता की ओर से की गयी, सो विप-प्रयोग समझिए, समाज की

तृतीय अध्याय

उत्सर्ग और अपवाद

पहले कहा जा चुका है कि धर्म विधि-निषेध-रूप से द्विधा विभक्त है। दुखियों पर दया करनी चाहिए, विधि है। चोरी न करनी चाहिए, निषेध है। ऐसे नियम बनाये हैं मनुष्य ने, समाज के सुख-सञ्चालनार्थ। प्रकृति पर उसने नियन्त्रण किया है। सत्य और अहिंसा आदि प्रमुख अङ्ग हैं धर्म के। इनके बिना समाज चल ही नहीं सकता। यदि लोग सचाई बिलकुल छोड दें और एक-दूसरे को मारने-काटने लगें, तो क्या होगा? यह धर्म जितना ही अधिक जिस देश मे होगा, वहाँ उतना ही जीवन का अभ्युदय होगा। परन्तु इन नियमों के अपवाद भी हैं और वे अपवाद भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं; प्रत्युत कभी-कभी मुख्य नियम से उसके अपवाद मे ही अधिक बल आ जाता है। इसका मतलब यह हुआ कि कभी-कभी असत्य तथा हिंसा भी धर्म हो जाते हैं। हाँ, हो जाते हैं। यही नहीं, क्रोध, लोभ तथा मोह आदि जिन भावों की बड़ी निन्दा की गयी है, वे भी कभी-कभी धर्म का रूप ग्रहण कर लेते हैं और सत्य, अहिंसा तथा क्षमा का अनुचित प्रयोग अधर्म बन जाता है। विष भी कभी

अमृत बन जाता है। किसी-किसी रोग मे डाक्टर विष-विशेष का इन्जेक्शन दे कर रोगी के प्राण बचा लेता है और दूध-घी जैसे अमृत पदार्थ भी स्थिति-विशेष मे और अनुचित प्रयोग से हानिकारक हो जाते हैं। परन्तु विष है विष ही। उससे सदा बचने को कहा जाता है, तब तो यह दशा है कि लोग भांग, गांजा, चरस और अफीम ही नहीं, संखिया तक खाने का शौक रखते है और शरीर तथा मस्तिष्क का नाश करते हैं, फिर यदि उनसे कह दिया जाय कि 'विष अमृत का भी काम देता है' तो क्या होगा? कुछ ठिकाना रहेगा? जब हिंसा, झूठ, धोखेबाजी आदि से बचने का एकान्त प्रतिपादन है, तब तो दुनिया मे सब इस बुरी तरह फैल रहे हैं, यदि कह दिया जाय कि कभी-कभी हिंसा और असत्य भी धर्म हो जाते हैं, तो फिर आप समझ सकते है कि क्या हो सकता है। इसीलिए साधारण जनता के सामने दूसरा रूप नहीं रखा जाता है। विष को डाक्टर अलमारी मे बन्द करके और ताला लगा कर कुञ्जी अपने पास रखता है। इसी तरह हिंसा आदि का विष समाज का चिकित्सक (शासक) अपने हाथ मे रखता है। जब जरूरत होती है, समाज की रक्षा के लिए इसका प्रयोग करता है। राष्ट्र के भीतर उपद्रव करनेवाले चोर-डाकुओ के प्रति वह दण्ड-प्रयोग करता है, जो एक हिंसात्मक उपाय है। कोई किसी को मार देता है, तो राज-सत्ता उसे मृत्यु-दण्ड देती है। यह हिंसा या प्रतिहिंसा जो शासन-सत्ता की ओर से की गयी, सो विष-प्रयोग समझिए, समाज को

रक्षा के लिए। जैसे डाक्टर के विना और कोई विप-प्रयोग नहीं कर सकता, करे, तो मर जाय उसी तरह प्रतिहिंसा आदि के प्रयोग का अधिकार साधारणतः सब को नहीं दिया गया। गलती हो जायगी! हानि होगी! प्रतिहिंसा ही नहीं, हिंसा भी धर्म बन जाती है। राष्ट्र पर आक्रमण करनेवाले वाहरी शत्रुओं का मुकाबला जब हम करते हैं, तो यथासम्भव पहल करने मे तत्पर रहते है। इस जगह हिंसा धर्म है। जो सिपाही जितने अधिक आततायियों को काटता-मारता है, उसे राष्ट्र उतना ही अधिक यश देता है और पुरस्कृत करता है। यानी, उसने हिंसा जो की, उसे हमने एक बड़ा धर्म, उसका एक बहुत बड़ा कर्तव्य समझा।

उन विधियों के ये अपवाद बुद्धि से समझ में आ जाते हैं। श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है—

> कर्मण्यकर्म य॰ पश्येदकर्मणि च कर्म य॰।
> स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्त॰ कृत्स्नकर्मकृत् ॥

—जो कर्म या कर्तव्य (अहिंसा तथा सत्य आदि) में अकम देखता है, देश, काल तथा पात्र की स्थिति के अनुसार अहिंसा तथा सत्य आदि का व्यवहार किसी समय उचित नहीं समझता है और अकर्म—अकर्तव्य—हिंसा और चालबाजी को कर्तव्य समझ कर ग्रहण करता है, वही मनुष्यों में बुद्धिमान् है। समझो, उसने सब अच्छे काम कर लिए।

सर्वत्र बुद्धि से काम लेना होगा। देखना होगा, सत्य और अहिंसा से यहां समाज को लाभ है कि नहीं। यदि एक को

मार देने से बहुत बड़े समाज का हित है, तो उसे मार देना अधर्म नहीं, धर्म ही होगा। इस तरह हिंसा धर्म बन जायगी। इसी तरह सत्य-असत्य आदि की बात है। अपने निज के स्वार्थ से प्रेरित होकर हिंसा आदि का प्रयोग अधर्म है और समाज-हित के लिए वैसा किया जाय, तो धर्म है। आत्म-रक्षार्थ भी हिंसा की जा सकती है। कानून मे भी इस के लिए छूट है। अपने घर से चोरों को हम लाठी के जोरों से भगा सकते है और इस से उन के सिर फट भी जाय, तो हमे सजा न मिलेगी। कारण, यह हिंसा हमने धर्म-मूलक की। हमारा कर्तव्य था, दुष्टों से अपने माल की रक्षा करना।

यह सब समझने के लिए बुद्धि चाहिए। धर्माधर्म-निर्णय मे बुद्धि पर इसी लिए श्रीकृष्ण ने उतना बल दिया है और मनु ने भी अन्तरात्मा की साक्षी को सब से प्रबल माना है!

इस धर्मस्थिति को न समझने के कारण ही कभी-कभी बड-बडे अनर्थ हो गये है। ऐसा भी हुआ है कि धर्म के किसी एक अंग का ऐसा अतिरेक कर दिया गया कि दूसरे अंग बिलकुल दब गये और समाज निर्बल हो गया। रोगी का जैसे पेट बढ़ जाय और शेष सब अंग सूख जायं! आगे हम कुछ उदाहरण देकर इसे और स्पष्ट करेंगे।

दया और क्षमा

समाज के सुख-संचालनार्थ दया और क्षमा का अत्यधिक

महत्त्व है। किसी को सताओ मत, दुखी पर तरस खाकर उस की मदद करो। यदि किसी से अनजाने कोई अपराध हो जाय और उस से तुम्हें कोई हानि पहुंचे, तो क्षमा से काम लो। कारण, उसने जान-बूझ कर तो हानि नहीं पहुंचायी न। यदि जान-बूझ कर भी हानि कोई पहुंचाये, पर वह अपना हो और उसके सुधारने के लक्षण हों, तो क्षमा कर देना चाहिए। परन्तु दुष्टों के प्रति भी यदि उसी दया और क्षमा का बर्ताव किया जायगा, तो फिर उन गुणों (दया और क्षमा) का महत्त्व कम हो जायगा ; प्रत्युत वे दुर्गुण का रूप धारण कर लेंगे—उन से समाज का अहित होगा ! दुष्टों के हौसले बढ़ जायँगे और वे बार-बार अपराध करेंगे। इस लिए, ऐसी दया और क्षमा फिर 'अधर्म' बन जायँगे। क्रूर और आततायी पर दया करना शेष समाज पर निर्दयता है। इसी तरह क्षमा भी अपराधशील दुष्टों के प्रति न्याय्य नहीं है। अहिंसा धर्म है, पर सर्वत्र नहीं। अहिंसा का अतिरेक ठीक नहीं। इसी तरह दया और क्षमा भी समझिए।

हमारे देश में अनेक धर्म-व्याख्याता ऐसे हुए है, जिन्हों ने धर्म का स्वरूप ठीक-ठीक नहीं समझा और उसके किसी एक ही अंग पर अत्यधिक बल दिया, समाज को गलत रास्ते पर ले गये ! दुष्ट-दमन समाज के लिए कल्याणकारी है। हम गरुड़ की पूजा करते है, क्यों कि वे सांपों को मार कर जगत् को निरापद् करते है। सांप यहां लक्षणा से दुष्टों को कहा गया है। दुष्ट-दमन के

कारण गरुड हमारे प्रशंसा-पात्र हुए। परन्तु इसी समाज में एक दूसरा मत चला—एकान्त अहिंसावाद। दुष्टों को भी मत मारो। इस मत के लोग जीमूतवाहन को पूजनीय समझते हैं, जिसने गरुड़ के आगे आकर उन्हें सांपो को मारने से रोका! जीमूतवाहन आगे आ गये—"लो मुझे मार डालो, तब किसी सांप को मारना।" गरुड़ ने दो-चार चोंचें मारीं, फिर छोड़ दिया। तब जीमूतवाहन ने गरुड से कहा—"अब आगे से सांपो को मत मारना।" गरुड ने जीमूतवाहन का 'उपदेश' मान लिया और फिर सांपो का मारना छोड दिया। इस तरह उन एकान्त अहिंसावादी मत मे गरुड़ की अवहेलना और जीमूतवाहन की प्रशंसा प्रकट की गयी है। अब समाज क्या करे? गरुड की पूजा चालू थी, इधर जीमूतवाहन जी सामने आ गये। पाठ पढा—'सांप को भी मत मारो। दया करो।'

समाज मे जीमूतवाहनी बढे। मुहम्मद गोरी को अनेक बार इस देश की सेनाओं ने परास्त किया। गोरी पकडा गया और सम्राट् पृथ्वीराज के सामने उपस्थित किया गया। नीति-निपुण गोरी ने क्षमा-याचना की। नीति-पराङ्मुख और जीमूतवाहनी सम्राट् पृथ्वीराज ने उन पर 'दया' की और उसे क्षमा कर दिया। वह शत्रु के पंजे से छूट कर घर पहुंचा और फिर प्रचण्ड सैन्य-संग्रह करके इधर पिल पडा। हमारी सेना बहुत युद्ध कर चुकी थी और पृथ्वीराज के क्षमा-दान से यह भी समझा जाता था कि ये फिर माफ करेंगे। हाथ-पांव ढीले पडे। गोरी की विजय हुई और

क्षमा-दानवाले सम्राट् उसके बन्दी बने। उसने निर्दयता के साथ इनकी आँखे निकलवा लीं। सो तो कोई बात नहीं, एक व्यक्ति की बात; पर हमारा यह देश सदियों तक गुलाम रहा! उसी 'दया-क्षमा' के विवेक-हीन प्रयोग से। न जाने कितनी हानि देश की धन-जन से हुई! धर्म-कर्म सब जाता रहा!

निःसन्देह सम्राट् पृथ्वीराज पर जोमूतवाहनी सम्प्रदाय का प्रभाव पडा होगा। उन्होंने धर्म समझ कर ही गोरी को क्षमा-दान दिया था। गरुड-सम्प्रदाय की चलती, तो उस महासर्प के टुकड़े-टुकड़े कर दिये जाते। कहने का मतलब यह कि हमारा समाज धर्म-व्याख्याताओ की खींच-तान में रहा। तभी तो कहा गया है कि 'धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्'। धर्म-तत्त्व बहुत स्पष्ट होने पर भी बहुत सूक्ष्म है। दया और क्षमा धर्म है; पर कहीं इनका प्रयोग अधर्म हो जाता है। हिंसा-असत्य अधर्म है; पर कहीं इनका प्रयोग धर्म हो जाता है, समाज का इनसे कल्याण होता है। शत्रु सेना के प्रति अहिंसा का वर्ताव कैसा रहेगा? यदि हम शत्रु के पंजे में फँस जायँ, तो सत्य बोलना धर्म समझ कर अपने देश का सब भेद उसे दे दें? यह धर्म है?

सत्य का अतिरेक

स्पष्ट है कि शत्रु के सामने हमें क्या करना चाहिए। जो हमें धोखा दे रहा हो और हमें सत्यवादिता की पट्टी पढ़ा कर उल्लू बनाना चाहता हो, उसके प्रति हमे कैसा वर्ताव करना चाहिए? 'शठे शाठ्यम्' धर्म है—शठ के साथ उसके अनुरूप वर्ताव करो।

यही धर्म है। परन्तु लोगों ने लीपापोती की। कहा—'शठे शाठ्यम्' तो नीति है—राजनीति है। सौजन्य तथा दया का वर्तव धर्म है! यों नीति तथा धर्म में भेद कर दिया। प्रशंसा अधिक धर्म की हुई। फलतः महाराज हरिश्चन्द्र जैसे धर्मात्मा लोगों की कहानियाँ सामने आयीं। एक व्यक्ति धोखे से सब ले रहा है और राजा उससे सत्य का वर्ताव कर रहे हैं! उस सत्य-रूपी धर्म से स्वयं दुःख उठा लेते, कुटुम्ब ने क्या बिगाड़ा था? वह भी उस विपत्ति में पड़ा। महारानी की दुर्दशा हुई, राजकुमार मारे-मारे फिरे। फिर भी न सोचा कि बात क्या है। सम्पूर्ण राष्ट्र—वह इतना बड़ा राज्य—विपत्ति में पड़ गया! अराजक राष्ट्र में क्या विप्लव—विपद्—सम्भावित नहीं। क्या कुछ हुआ होगा, कल्पना कीजिए। सबको निरीह दशा में छोड़ दिया गया। मानो राजा का सत्य बोलना मात्र कर्तव्य और धर्म था, न कुटुम्ब का पालन-पोषण करना उसका धर्म था, न प्रजा की रक्षा करना ही। ऐसी कहानियों से समाज में धर्म की अविचारित एकाङ्गिता फैलायी गयी। फलतः धर्म में समाज के प्रति कर्तव्य तो लोग भूल गये और धर्म के नाम पर रूढ़िवादी हो गये। राष्ट्रीय भावना जाती रही। देश जाय चूल्हे में, हमें दया-क्षमा और सत्य नहीं छोड़ना है। इस तरह धर्म का डंका बजाया गया। तब समाज का क्या होता? अभी तक हम किसी तरह जीवित-जागृत रहे। यह भगवान् की दया समझिए, जिनकी प्रेरणा से यहाँ कुछ बने जागृत और 'मर-मिट' तत्त्व सदा बने रहे।

अतिथि-सेवा का अविचारित रूप भी उस तरह की कथाओं मे प्रकट ही किया गया है। इसी तरह धर्म के विविध अंगों की गलत व्याख्या की गयी। उन कहानियों को हमें इसी रूप में लेना चाहिए कि उस तरह हमें कर्तव्य-व्यामोह न हो! महाराज हरिश्चन्द्र और युधिष्ठिर हमारे आदर्श नहीं है, न जीमूतवाहन की ही पूजा हमारे यहाँ प्रचलित हुई। हम तो राम को अपना आदर्श मानते है, जिन्होंने छिप कर भी, छल-बल से, शत्रु को मारा, शत्रु को मारने के लिए एक मित्र बनाया और उसे गद्दी पर बैठाने के लिए उसके बड़े भाई को मारा। हमारे आदर्श श्रीकृष्ण है, जिन्होंने समय पर युधिष्ठिर से भी झूठ बुलवा लिया। वे जानते थे कि युधिष्ठिर तो सत्य का पाठ रटे हुए है, जिससे काम बिगड जायगा! एक ढंग से काम निकाल लिया। वे जानते थे कि इन्हें समझाना कठिन है कि कभी-कभी असत्य भी धर्म हो जाता है। अर्जुन को उन्होंने सब समझाया; क्योंकि उन्होंने कोई पाठ उस तरह याद नहीं किया था। गीता का यही गौरव है कि उसने धर्म की सूक्ष्म और स्पष्ट व्याख्या उपस्थित की है। गीता ने कहा—'समत्वं योग उच्यते'—धर्म के अंगों मे समता-सामञ्जस्य-ही योग है, श्रेष्ठ कर्म योग है। न तो ऐसी अहिंसा और क्षमा कि हम भेड़ बनजायँ और लोग हमे खा जायँ; न ऐसा अविचारित शौर्य्य कि हम मनुष्य न रह कर भेड़िया बन जायँ। क्षमा और दया का उचित प्रयोग हमे मनुष्यत्व ही नहीं, देवत्व प्रदान करेगा। परन्तु उसका अन-भीष्ट प्रयोग हमें कायर और भेड़ बना देगा। फिर अपनी कायरता

को लोग अहिंसा में छिपाने भी लगेंगे। शौर्य्य में क्रोध तथा हिंसा का उपयोग है; पर कर्तव्य सोच-समझ कर। निरपराध जन-संहार शौर्य्य नहीं, कसाईपन है। शूर और क्रूर में विवेक ही तो भेदक है।

इसी तरह धर्म के अन्यान्य अंगों के सम्बन्ध में समझना चाहिए। दिशा–निर्देश भर करना था, जो हो गया !

होम और यज्ञादि

हमारे यहाँ होम और यज्ञ का बड़ा महत्त्व है। धर्म में इनकी बड़ी प्रतिष्ठा है। यह अग्नि-पूजा है। ज्येष्ठ वेद (ऋग्वेद) में सबसे पहला सूक्त है— अग्नि-सूक्त। अग्नि-उपासना पर अत्यधिक जोर है। ऋग्वेद का सबसे पहला जो मंत्र है, उसमें सबसे पहला पद 'अग्नि' है—'अग्निमीडे पुरोहितम् '। इस से स्पष्ट है कि हमारे ऋषि अग्नि-पूजा पर कितना बल देते थे उस समय। यह भी लिखा है कि इस अग्नि-पूजा से तुम्हें सुख मिलेगा, तुम्हारे शत्रुओं का नाश होगा, तुम्हारा राज्य समृद्ध तथा विपद्-हीन होगा, इत्यादि। हमें सोचना है कि बात क्या है ! क्या इसी अग्निकी पूजा करने से हमें यह सब मिलेगा, जिससे हम भोजन पकाते हैं, या कोई और आग है ! निःसन्देह यह आग अभि-प्रेत नहीं है। इसकी पूजा से व फल सम्भावित नहीं हैं, जिनका निर्देश इन मंत्रोंमें है। हम समझते हैं, यहाँ 'अग्नि' शब्द का लाक्षणिक प्रयोग है। वेद जिन्होंने पढ़े हैं, जानते हैं कि वहाँ लक्षणा का कितना अधिक आश्रय लिया गया है, विशेषतः माध्य-

वसाना (गौणी) लक्षणा का ! हम कुछ विस्तार से इसे समझाना चाहते है।

जिस समय वेदों की रचना हुई, आर्य्य-साम्राज्य का विस्तार हो रहा था और 'देवासुर-संग्राम' जोरों पर था। उस समय एक जलन जरूरी थी, जिसमें शत्रु-दल भस्म हो जाय। हम अपने शत्रुओं से कस कर निपट लें, यह भावना जरूरी थी। इसके लिए प्रेरणा-धौंकनी चाहिए थी, जो उसको तेज किये रहे। कहीं ऐसा न हो कि देश राजसुख में लिप्त हो कर एकदम ठंढा पड जाय, निस्तेज हो जाय ! इसीलिए सबसे पहले अग्नि-पूजा का उपदेश है—आग की पूजा करो। ऋषि कहते है—'अग्निमीडे'—मैं अग्नि की उपासना करता हूं, अग्नि का प्रशंसक हूं। वह आग, जिसमे शत्रु जल जायँ।

इस अग्नि को कभी बुझने दो, यह आदेश है। अग्नि में अच्छी आहुतियाँ दो। यदि दुराचारी जनों को धर्म-युद्ध में ले जाओगे, तो वह बदनाम हो जायगा। महत्व गिर जायगा। सैनिक में सदाचार चाहिए। अच्छी आहुति पड़ने से अभीष्ट-सिद्धि जल्दी होगी। जितने अच्छे आदमी आगे बढ़ेंगे आहुति देने को, उतना ही अच्छा। आजाद हिन्द फौज में वह वैसा जोर क्यों आ गया था ? इसीलिए कि नेताजी (श्रीसुभाषचन्द्र बोस) स्वयं मोर्चे पर जाते थे, जब जरूरत होती थी। यही अच्छी आहुति का तात्पर्य है, जिसे बाद मे लोगों ने घी-साकल्य समझ लिया, जब 'अग्नि' से यह मामूली आग समझी जाने लगी ! यह होम नित्य की बात है। सदा तेजस्विता रखो।

'यज्ञ' क्या है

'यज्ञ' का महत्त्व बहुत अधिक है। यज्ञ है क्या? विशेष अवसर पर विशेष समारोह से अग्नि-पूजा! साधारणतः अग्नि-पूजा तो नित्य-विधि में है। हम में तेजस्विता न हो, तो हमारे दैनिक काम ही आगे न बढ़ें। हमारा घर लुट जाय, इज्जत लुट जाय! इसी लिए नित्य-विधि मे अग्नि-पूजा है। उस अग्नि (तेजस्विता) का प्रतीक रूप हमने भौतिक अग्नि स्वीकार किया और उन आहुतियों (वीर हुतात्माओं) का प्रतीक लिया घृत आदि सामग्री। कालान्तर में प्रतीक को ही असली चीज मान बैठे! जैसे राष्ट्र का प्रतीक हमारा तिरंगा झंडा है। हम उसका सम्मान करते हैं और उसकी बेइज्जती को राष्ट्र की बेइज्जती समझते हैं। अब यदि कोई ऐसा मूर्ख हो, जो कहे कि हमारे लिए तो झंडा ही सब कुछ है और इसके सम्मान के लिए तो राष्ट्र को भी छोड़ सकता हूं; तो उसे आप क्या कहेंगे? इसी तरह शत्रुपराभवकारिणी 'अग्नि' की उपसना भूल कर इस भौतिक आग को ही सब कुछ समझने लगे!

हां, मैं 'यज्ञ' के विषय में बतलाने जा रहा था। बतलाया गया कि नित्य की अग्नि-पूजा एक साधारण धर्म है। विशेष अवसर पर जब सामूहिक रूप से अग्नि-पूजा होती थी, तो उसे 'यज्ञ' कहते थे। यज्ञ मंत्र-पूर्वक होता है। मंत्र-मंत्रणा, खूब अच्छी तरह सोच विचार। जब अच्छी तरह 'मंत्रणा' करके सामूहिक रूप से अग्नि-पूजा की जाती थी तो उसे 'यज्ञ' कहते थे। यज्ञ मे पशु-वध आवश्यक। 'पशु' समझे? 'पशवः

आततायिनः'—आततायी को पशु कहते हैं। आततायी वह, जो हमारे देश को लूटने आये, हमें वर्बाद करने आये, हमें कर्त्तव्य भ्रष्ट करने आये और किसी तरह भी न माने! उस शत्रु से निपटना हमारा धर्म है। ऐसे ही 'पशुओं' का वध यज्ञ में आवश्यक है। ऐसे यज्ञ से स्वर्ग मिलता है; मुक्ति मिलती है। हम स्वतन्त्र होकर संसार का सुख प्राप्त करते हैं। 'यज्ञ' का बड़ा महत्त्व है।

जब हम 'अग्नि' को साधारण अग्नि समझने लगे, तब 'पशु' को भी यही चौपाये समझने लगे! बेचारे मूक और निरपराध उपयोगी पशु काट-काट कर आग में डाले जाने लगे! प्रतिक्रिया में बुद्ध भगवान् का प्रादुर्भाव हुआ और फिर अहिंसा का अतिरेक! उस की दवा फिर दूसरे आचार्यों ने की। परन्तु 'होम' तथा 'यज्ञ' मे 'अग्नि' वही रही। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी 'अग्नि' से साधारण आग ही अर्थ समझा है। आप कहेंगे, तो फिर क्या कुए में भाँग पड़ गयी? क्या किसी की भी समझ में बात न आयी और एक आप ही नये व्याख्याता पैदा हुए हैं, जिन्हें यह नया अर्थ सूझा? मेरा निवेदन है कि हाँ, कभी-कभी कुए में भाँग पड़ जाती है। यहाँ उदाहरण के रूप में हम कुछ ऐसी ही बातें उपस्थित करेंगे।

भारतीय काव्य-धारा में सूर्य तथा कमल का सम्बन्ध प्रसिद्ध है। संस्कृत, हिन्दी, बंगला, मराठी, गुजराती आदि भारतीय भाषाओं के काव्य-साहित्य में प्रसिद्ध है कि सूर्य के उदय होने पर

कमल खिलता है और सूर्य के अस्त हो जाने पर मुरझा जाता है, या सम्पुटित हो जाता है। कालिदास आदि महाकवियों ने भी ऐसा ही वर्णन किया है। प्रभात तथा सन्ध्या के वर्णन में सूर्य और कमल का उस रूप में वर्णन अवश्य आयेगा। इसे 'कविसमय' में ले लिया गया है, कवियों के साधारण वर्णनीय विषयों में यह है। मैंने देखा, यह बात गलत निकली। सूर्य के छिप जाने पर कमल का फूल न तो मुरझाता है, न सम्पुटित होता है। वैसा ही खिला रहता है। पूर्णिमा की उजेली रात में चार-चार घण्टे मैं रायपुर (सी० पी०) के तालाबों पर बैठा देखता रहता था। वहाँ कमल बहुत हैं। जब यह मैंने देखा, तो लिखा (शायद अपनी 'सहित्य-मीमांसा' में) कि ऐसा वर्णन अब कवियों को बन्द कर देना चाहिए, जो प्रत्यक्षतः प्रकृति-विरुद्ध हो। कोई विदेशी जन हमारे ऐसे वर्णन पढ़ कर हमारे प्रकृति-निरीक्षण को क्या कहेगा? यह मैंने उस समय लिखा था। परन्तु 'अग्नि-पूजा' का अर्थ जब मेरी समझ में आया, तब इस 'सूर्य-कमल' प्रकरण को भी समझने में देर न लगी। यहाँ भी उसी (साध्यवसाना गौणी) लक्षणा का खेल है, जिसका 'अग्नि-पूजा' में! सूर्य तथा कमल से यहाँ जो अध्यवसित थे, हमारी आँखों से ओझल हो गये! वस्तुतः सूर्य तथा कमल पुरुष और स्त्री के लिए लक्षणा करके किसी चतुर कवि के द्वारा कहीं प्रयुक्त हुए होंगे। फिर लोग लक्ष्यार्थ समझने में असमर्थ हो गये और वाच्यार्थ ही ग्रहण कर बैठे!

यों समझिए। किसी तेजस्वी पुरुष का वियोग-प्रकरण है। तेजस्विता के लिए प्रसिद्ध उपमान सूर्य है और कोमलता तथा सुन्दरता के लिए स्त्री-मुख का उपमान कमल। पति-वियोग में स्त्री-मुख कुम्हला गया, श्री-हत हो गया; ऐसा वर्णन है। इसके लिए किसी चतुर कवि ने कहीं किसी समय लक्षणा द्वारा यों वर्णन किया होगा—'सूर्य के हटते ही कमल मुरझा गया!' कवि की और उसके काव्य की प्रशंसा हुई होगी। सब लोग उस काव्य को पढ़ने लगे होंगे, पर बाद मे लक्ष्यार्थ ध्यान से ओझल हो गया। सब लोग तो लक्ष्यार्थ समझ भी नहीं पाते। तब वाच्यार्थ ही तात्त्विक समझा जाने लगा कि सूर्य जब छिपता है, तब रोज सन्ध्या के बाद कमल के फूल सम्पुटित हो जाते है, मुरझा जाते है, श्रीहीन हो जाते है! जब किसी ने देखा कि ऐसा तो नहीं होता! सन्ध्या के बाद भी कमल खिले रहते है; तब यह कह कर इसी वाच्यार्थ का समर्थन किया कि यह 'कवि-समय' है। लवि लोग ऐसा वर्णन करते चले आये हैं। इस तरह उस सुन्दर लक्ष्यार्थ को भूल कर वाच्यार्थ ग्रहण किया और फिर उसे रूढि ('कवि-समय') के द्वारा समर्थित किया!

इसी तरह प्रिय-मिलन का वर्णन करते हुए कहा गया होगा "सूर्य के दर्शन होते ही कमल खिल उठा।" बाद में वाच्यार्थ मात्र ग्रहण कर लिया गया और प्रत्येक कवि प्रातःकाल का वर्णन करते समय कमलों के खिलने का वर्णन करने लगा।

यही नहीं, कमल में भौंरे का बन्द हो जाना भी कविता में

आ गया और सच माना जाने लगा कि सन्ध्यासमय जब कमल का फूल सम्पुटित होता है, तो उस पर बैठा हुआ भौंरा उसी में बन्द हो जाता है। सवेरे जब कमल फिर खिलता है, तब भौंरा जीता-जागता निनल आता है। हवा कैसे पहुंचती है? कमल को काट कर वह निकल क्यों नहीं आता; इस के भी उत्तर तयार किये गये! कहा जाने लगा कि भौंरा लकड़ी को तो काट देता है, पर कमल के फूल को कैसे काटे? उस से तो प्यार करता है न। इसी लिए उसे काट कर नहीं निकलता। वेचारा उसी में बन्द पडा रहता है। सवेरे निकलता है। यह वात भी सच मान ली गयी। लक्ष्यार्थ भूल जाने का यह परिमाण है। कभी किसी कवि ने किसी बच्चे या स्त्री के जागने का वर्णन किया होगा। प्रातःकाल आँखें खुलीं, यह वर्णन होगा। आँखों का उपमान कमल प्रसिद्ध है और काली पुतली का उपमान भौंरा है। सुन्दर रतनारे नेत्रों में काली पुतली इस तरह इधर-उधर घूमती है, जैसे खिले हुए कमल-पुष्प पर भौंरे रस ले रहे हों। सवेरे कोई जागा, इस का वर्णन कवि ने किया— 'सूर्य का उदय होते ही कमलों की पंखड़ियाँ फिर खिल उठीं, जो सन्ध्या समय सम्पुटित हो गयी थीं। उन में जो भौंरे बन्द पड़े थे, उन्मुक्त हुए और फिर घूम-घूम कर रस लेने लगे।' 'सूर्य' का यहाँ लक्ष्यार्थ नहीं, वाच्यार्थ गृहीत है। सूर्योदय हुआ और वह सुन्दर बच्चा जागा। कमल उसकी आखें और भौंरा उसकी पुतली। इस लक्ष्यार्थ को भी भूल कर वाच्यार्थ में पड़ गये और फिर इसे

भी कहीं उठा ले गये। तव सव को मिला कर कहा जाने लगा—"सन्ध्यासमय, सूर्य छिपने पर कमल के फूल सम्पुटित हो जाते हैं और भौंरा उसी में वन्द हो जाता है। जव सवेरे सूर्य निकलता है, तव कमल फिर खिलता है और वन्द भौंरा कैद से छुटकारा पा जाता है।" इसी अर्थ को लेकर वड़े-वड़े कवियों ने कविताएँ की है। तो, क्या कुए में भाँग पड़ गयी? आप ही वतलाइए!

यही नहीं; यहीं नहीं, दूसरे देशों में भी लक्ष्यार्थ भूल जाने से गड़बड़-घोटाला हुआ है। फारसी के किसी कवि ने किसी समय स्वर्ग की अप्सराओं का रूप-वर्णन करते समय कहा होगा—'वे सौन्दर्य्य की प्रतिमाएँ हैं और जमीन पर तो उन के पैर ही नहीं पड़ते। वे तो आकाश में उड़ती है।' असम्वन्ध में सम्वन्ध-लक्षणा का स्थल। हम लोग जव किसी के धन आदि के अतिरेक का वर्णन करते है, तव कहते है—'उस के इतना धन है और उसका इतना गर्व है कि पैर जमीन पर नहीं पड़ते! सचमुच वह आजकल आकाश में उड़ता है।' मतलव यह कि लोकातिक्रान्त धन और तज्जन्य गर्व है। इस लक्षणा को वाद मे लोग भूल गये; पर इस कवि की कविता तो प्रसिद्धि पा चुकी थी; सब पढ़ते रहे। 'वे उड़ती है! उनके पैर जमीन पर नहीं लगते!' ठीक, तो उनके पर लगे होंगे! लो भाई, देव-वधूटियों के पर लग गये और उनका नाम भी 'परी' पड़ गया! यह न समझा कि किसी स्त्री के पंख लगा दिये जायँ, तो

उसकी शोभा क्या बढ़ जायगी! 'परी' तो वे हुईं, यदि 'सींगवाली' भी हो जातीं, तो शोभा और बढ जाती! मजा यह कि उन 'परी' (परवाली) स्त्रियों के रूप-सौन्दर्य का बखान भी है! बाद में ऐसी भी कहानियाँ बनीं कि अमुक परी अमुक को लेकर उड़ गयी! जैसे कोई भेड़िया किसी को उठा ले जाय! यह सब लक्ष्यार्थ भूल जाने का परिमाण है। कविता में तो खैर कुछ नहीं, पर वेदार्थ में लक्षणा-विस्मरण से यज्ञ आदि का क्या अर्थ किया गया और पशु-हत्या कैसी हुई, सो देखिए!

जब अग्नि-पूजा से इसी भौतिक अग्नि की पूजा ग्रहण की गयी, तो बाद में (आर्य-समाज ने) उस की पुष्टि में 'वायु-शुद्धि' का हेतु दिया। बच्चे को तोला भर घी न मिले, सवेरे हवन-कुण्ड में जरूर पड़े। क्यों? इस लिए कि हवन करना धर्म है, वायु शुद्ध होगी! अशुद्ध वायु इस सुगन्ध से शुद्ध चाहे न हो, उस की अशुद्धता (बदबू) दब जरूर जायगी। परन्तु वह काम तो साधारण अगर-बत्ती आदि से भी हो सकता है न? वायु अशुद्ध ही क्यों करो! सफाई रखो! इंगलैंड, अमरीका, जापान आदि में हवन नहीं होता, तो क्या वहाँ वायु बहुत गन्दी रहती है? क्या वहाँ स्वास्थ्य हम से भी खराब रहता है?

बात क्या है? कहीं स्वास्थ्य-प्रकरण मे लिखा होगा कि "घी से वायु शुद्ध होती है। यदि अग्नि मे नित्य तोला-दो तोला घी पड़ जाय, तो वायु शुद्ध रहेगी और स्वास्थ्य ठीक रहेगा।" सब जानते है कि शुष्क भोजन से शरीर की वायु विकृत (अशुद्ध)

होती है और तरह-तरह के रोग पैदा करती है। यदि इस आग (जठराग्नि) में नित्य प्रातः-सायं तोला-तोला भी घी होम दिया जाया करे, तो वायु शुद्ध रहे, गड़बड़ न हो और फिर रोग पैदा न हों।

इस स्वास्थ्य-प्रकरण की जठराग्नि को भी ऊपर की वही आग समझ लिया गया और अग्नि-पूजा के समर्थन में हेतु दिया जाने लगा।

संक्षेप यह कि जब वेद बन रहे थे, आर्य-जन अपने उत्कर्ष में लीन थे, तब संघर्षमय जीवन था (देवासुर-संग्राम चल रहा था)। इसी लिए उस समय उन्होंने 'अग्नि-उपासना' पर वैसा जोर दिया था। 'यज्ञ' आप धर्म-संस्थापनार्थ 'महासमर' समझिए। उसी की प्रशंसा में यह सब है। फिर उसे लोगों ने क्या का क्या बना दिया; स्पष्ट है! बड़े-बड़े ग्रन्थ बने, यज्ञ का विधि-विधान बताने के लिए।

जो भी हो; जो कुछ मैं ने समझा, लिख दिया। हमारे ऋषि साधारण जन न थे। वेद में लाक्षणिक प्रयोग अनन्त हैं। जैमिनि ने और महर्षि यास्क ने स्पष्ट कहा है कि वेदार्थ करते समय लक्षणा पर पूरा ध्यान रखना चाहिए; क्यों कि वेदों में लाक्षणिक प्रयोगों की कमी नहीं है। जब मुख्यार्थ (वाच्यार्थ) का बाध हो, उपपत्ति ठीक न बैठे, तभी लक्षणा आ जायगी; किसी सम्बन्ध को लेकर। लक्षणा को जब लोग भूल जाते हैं, तो साधारण वाच्यार्थ ही सब-कुछ समझ बैठते हैं और उस (बाधित

अर्थ) की उपपत्ति के लिए तरह-तरह की बातें और कहानियाँ गढ़ते हैं। जब कोई और बात नहीं मिलती, तो 'कवि-समय' की तरह रूढि की दुहाई देने लगते हैं—'ऐसा चला आता है !'

अग्नि-पूजा के सम्बन्ध में मैंने एक यह नयी उद्भावना की है। मैं नहीं कहता कि मेरा ही मत सही है, और सब गलत ! पर विचार-कोटि में यह भी रखने योग्य है। क्या आश्चर्य, हमारे ऋषियों ने 'अग्निमीडे' का प्रयोग उसी अर्थ में किया हो, जो मैंने समझा है। निःसन्देह यह एक विचारणीय विषय है। मुझे आशा है, धर्म-मीमासा में रस लेने वाले विद्वान् इस पर चर्चा चलायेंगे।

अतिथि-सेवा

अतिथि-सेवा भी धर्म का एक अंश है। समाज के लिए धर्म का यह अंश अत्यन्त आवश्यक है। यदि आप किसी ऐसे देश में चले जायँ, जहाँ कोई 'अपना' न हो, तो क्या हो ? आप कहाँ जायँ ? क्या करें ? यदि कोई आपको सहारा न दे, तो ? कैसी विपत्ति ! इसी लिए धर्मशास्त्र में अतिथि-सेवा पर जोर दिया गया है। इसीका प्रतीक हमारी वे धर्मशालाएँ हैं, जहाँ कोई भी बटोही टिक सकता है। यहाँ उसे सब तरह की सुविधाएँ मिलती है। और किसी देश या समाज मे 'धर्मशाला' जैसी कोई चीज नहीं ; होटल या सराय तो हैं। धर्मशाला मे सेवा की भावना है, अतिथि-सेवा है और होटल या सराय में दूकानदारी ! घर

पर आया कोई अतिथि-भूखा न रहना चाहिए; यह मनु का उपदेश है। परन्तु इस वात का भी ध्यान रहे कि कोई ठग अतिथि बन कर न आ जाय और धोखा न दे! बुद्धि से परीक्षा कर लेनी चाहिए। रॅग-ढॅग से सब मालूम पड़ जाता है।

मनु के दो श्लोक है—

आसनाशनशय्याभिरद्भिर्मूलफलेन वा।
नाऽस्य कश्चिद्वसेद्गेहे शक्तितोऽनर्चितोऽतिथिः॥

और—

पाषण्डिनो विकर्मस्थान् वैटालव्रतिकाञ्छठान्।
हैतुकान् वकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणाऽपिनाऽर्चयेत्॥

—गृहस्थ के घर आया हुआ अतिथि अवश्य सत्कृत होना चाहिए। यथाशक्ति आसन, भोजन, शय्या आदि की व्यवस्था कर देनी चाहिए। और कुछ न हो, तो फल-फूल से या जलमात्र से उसका सम्मान करना चाहिए।

—परन्तु अतिथि के रूप में यदि पाखंडी लोग हों, तो उनका सत्कार तो क्या, उनसे सीधे वात भी न करनी चाहिए। दूर से ही धता बताना ठीक है। ऐसे पाखण्डी वड़े ही कुकर्मा होते हैं। ये शठ बिल्ली की तरह दबे आते हैं और मौका पा कर झपटते हैं। इनका हेतु छिपा होता है। ऐसे बगला-भगतों से सावधान रहना चाहिए।

मनु का मतलब यही है कि अतिथि-सेवा करो, पर सावधान भी रहो। अतिथि के रूप में कहीं भेड़िया और सांप न आ

जायँ ! मयूरध्वज की तरह चक्कर में न पड़ जाना ! मयूरध्वज ने कहीं धर्मशास्त्र में सुन लिया कि अतिथि को ईश्वर मान कर उसकी सेवा करनी चाहिए। यह नहीं सुना कि पाखण्डियों से बचे रहना चाहिए ! फल यह हुआ कि एक 'अतिथि' के कहने से, उसके पालतू शेर को खिलाने के लिए, अपने इकलौते अबोध बच्चे को मार डाला। कहते हैं, राजा और रानी ने आरे से उस बच्चे को चीरा ! उस अतिथि ('साधु') की यही आज्ञा थी ! कैसी मूर्खता है। कोई हद है ! मा-बाप के द्वारा बच्चे को आरे से चीर देना, एक अतिथि के पालतू पशु का पेट भरने के लिये ! ऐसी मूर्खता की अनेक कहानियाँ है। लोग अधर्म को धर्म समझ बैठते है। कुरान शरीफ मे लिखा है कि खुदा को प्रसन्न करने के लिए सबसे प्रिय वस्तु की कुर्बानी करनी चाहिए। मतलब यह कि कर्तव्य-पालन में बड़ा-से-बडा त्याग करना चाहिए, यदि जरूरी हो। इसीसे भगवान् प्रसन्न होते है। यदि अपने प्राण भी देने पड़ें, तो तैयार रखने चाहिए। परन्तु एक भगतजी ने क्या समझा, सो सुनो। उन्होंने समझा कि मुझे अपना पुत्र सबसे अधिक प्रिय है। उसी की कुर्बानी कर देनी चाहिए। यह सोच कर वे उसे एकान्त मे ले गये और उसकी गर्दन पर तलवार चला दी ! कहते है, खुदा की मेहरबानी, बच्चा तो बच गया और उसके बदले एक मेढ़ा कटा मिला। तभी से 'ईदुल फ़ितर' की कुर्बानी चली। इसी तरह, कहते है, मयूरध्वज का लड़का भी जी उठा था। सो, यह तो भगवान् की

दया, जो वे बच्चे बच गये। पर मा-बाप की मूर्खता और कसाईपन तो देखिये! यह सब धर्म का रूप न समझने के कारण!

लड़कियों की एक परीक्षा में 'धर्मशास्त्र' भी वैकल्पिक विषय है। परीक्षा में जो पुस्तक नियत है, उसमें 'धर्मात्मा' लोगों की बड़ी विचित्र कथाएँ दी हुई हैं। अतिथि-सेवा का मर्म समझाने के लिए एक 'सुदर्शन' नामक राजा और उसकी रानी की कथा दी हुई है। वह यों है—

किसी समय सुदर्शन नाम का एक धर्मात्मा राजा राज्य करता था। उसको रानी भी बड़ी धर्मात्मा थी। राजा-रानी अतिथि को ईश्वर मान कर सेवा करते थे। एक दिन की बात, एक 'देवता'जी साधु के वेश में अतिथि बन कर आ गये, जब कि राजा घर पर न थे। रानी ने अतिथि-सत्कार करना चाहा। भोजन करने के लिए कहा। पर, 'अतिथि'जी ने कहा—मुझे तो तेरा शरीर चाहिए! रानी अतिथि को ईश्वर मानती थी। वह शरीर-दान के लिये तैयार हो गयी। इसी समय राजा आ गये। जब उन्हें मालूम हुआ कि अतिथि ने रानी का शरीर माँगा है, तब वे भी राजी हो गये और कहा कि आज रानी धन्य है और उसके सम्बन्ध से मैं भी। शरीर अतिथि-सेवा के काम में आये, इससे बढ़ कर क्या!

इस बेहूदा कहानी का लड़कियों पर क्या प्रभाव पड़ेगा? सहस्रशः लड़कियाँ इस परीक्षा में बैठती हैं। लाखों लड़कियाँ

यह कहानी तथा इसी तरह 'धर्म' की दूसरी कहानियाँ पढ़ती-पढाती हैं। उन्हें समझाया जाता है—तुम भी इसी तरह अतिथि सेवा करो! इस तरह धर्म के नाम पर भ्रष्टाचार वढ़ रहा है; वढ़ाया जा रहा है! मठ-मन्दिर के महन्त नहीं, देश मे शिक्षा-प्रचार करने वाले देश-भक्तों के द्वारा यह 'धर्म-प्रचार' हो रहा है! इसे कौन रोके? यह गन्दगी देश को नष्ट कर देगी। अभी तक हम वचे हुए है; यह भगवान् की ही कृपा। अन्यथा, मयूरध्वजों ने और सुदर्शनों ने तो खत्म ही कर दिया था।

साराश यह कि अतिथि सेवा धर्म है, पर इसमे भी सावधानी अपेक्षित है। धोखे मे मत पडो। हमे विश्वास है, मयूरध्वज तथा सुदर्शन के समान मूढ लोग तो समाज में अव न मिलेंगे, जो जीती मक्खी निगल जायँ! हाँ, धोखा लग सकता है। कोई अतिथि वन कर आये और घर का सामान वटोर ले जाय, यह हो सकता है। इसीलिये कहा है—

'अज्ञातकुलशीलस्य वासो देयो न कस्यचित्'

—ऐसे किसी भी व्यक्ति को घर मे मत ठहराओ, जिसे अच्छी तरह न जानते होओ। इसीलिये हिन्दुओ ने 'धर्मशाला' वनवाना शुरू किया होगा। अतिथि-सेवा भी और घर से दूर भी।

वहुधा 'साधु' के वेश मे वदमाश लोग घूमते हैं। लोग इन्हें अपने यहाँ ठहरा लेते है और ईश्वर मान कर इनकी सेवा करते

है। ये लोग बड़े धूर्त होते हैं। जब घर बर्बाद हो जाता है, तब भगतजी को होश आता है।

इसीलिए मनुजीने चिल्ला कर कहा है कि पाखण्डियों से बचो!

तपस्या

धर्म में 'तप' का बहुत अधिक महत्त्व है। मनु ने लिखा है—

> यद् दुस्तर, यद् दुराप, यद् दुर्गं, यच्च दुष्करम्।
>
> सर्वं तु तपसा साध्य तपो हि दुरतिक्रमम्॥

— जिसे पार करना बहुत कठिन है, तप के द्वारा वह पार किया जा सकता है; दुर्लभ पदार्थ भी तप से सुलभ हो जाता है; जहाँ पहुंचना असम्भव समझा जाता है, वहाँ तप के द्वारा पहुंच सकते है; जो दुष्कर समझा जाता है, तप उसे सुकर कर देता है।

इसी तरह न जाने कितनी प्रशंसा तप की मनु नें की है। अन्य धर्मशास्त्रों मे तथा श्रीमद्भगवद्गीता आदि धर्मशास्त्र के दार्शनिक ग्रन्थों में भी तप का बड़ा माहात्म्य बतलाया गया है। नि.सन्देह तप धर्म का नवनीत है; ऐसा जान पड़ता है।

अच्छा, तो यह तप या तपस्या है क्या चीज, जिसका ऐसा माहात्म्य है? लोग कहते हैं—भूख, प्यास, जाड़ा-गरमी, धूप-मेह आदि के कष्ट सहने को तप कहते हैं। जाड़े के दिनों में किसी गहरे तालाब अथवा नदी आदि में गले तक डूब कर खड़ा रहना, गरमी के दिनों में प्रचण्ड सूर्य की किरणें सिर पर लेना और चारों ओर आग जला कर झुलसते रहना, अन्न-जल त्याग कर शरीर सुखा देना; इत्यादि तपस्या है।

हम पूछते हैं कि क्या यही वह तपस्या है, जिसकी वैसी महिमा गायी गयी है ? क्या इसीसे भगवान् प्रसन्न होते है ? यह क्यों ? धर्म का अङ्ग यह तपस्या कैसे ? ऐसे तप से समाज का क्या उत्कर्ष ? भगवान् इससे प्रसन्न होते है ; ऐसी कल्पना का आधार क्या है ? यदि मेरा लड़का कुछ काम घर का न करे और खाना-पीना छोड़ कर धूप में खडा रहे, तो इससे क्या मुझे प्रसन्नता होगी ? तप का उपर्युक्त लक्षण गलत है। उसमे जान नहीं है। आप 'समाज के हितार्थ' उसमें जोड दें, तो जान पड़ जायगी। तब वह लक्षण सजीव हो जायगा। तप का पूरा लक्षण यह है—

समाज के कल्याण के लिए यदि कोई दुःसह कष्ट सहन करता है, तो वह 'तप' है।

यही तप धर्म का प्राण है, जिसकी उतनी प्रशसा की गयी है। आप नदी में स्नान कर रहे हैं या किनारे बैठे सन्ध्या कर रहे हैं। उसी समय कोई बच्चा नहाते-नहाते धार मे पड़ गया और डूबने-बहने लगा तो आपका कर्तव्य क्या है ? आप अपनी सन्ध्या छोड़ कर और माला फेंक कर दौड़ें और उस बच्चे को पकड़ कर बचायें। यह आपका धर्म है। परिस्थिति के अनुसार धर्म बदलता है। सन्ध्या-वन्दन करना आपका साधारण धर्म है, नित्य विधि है ; कीजिए।

परन्तु उस समय जो यह विशेष धर्म या कर्तव्य सामने आ गया है, उसके लिए उस सामान्य धर्म को उतनी देर के लिए छोड

देना होगा। यदि आप ऐसा न करेंगे, तो भगवान आपसे प्रसन्न होंगे क्या? उस बच्चे को बचा कर आप कर्तव्य पालन करेंगे, धर्म करेंगे।

अब 'तप' समझिए। मान लीजिए, थरथराते जाड़े के दिन है और बच्चा इतनी दूर चला गया कि वहां पहुंच कर उसे बचाना अपनी जान जोखिम में डालना है। सब खड़े देख रहे है; पर किसी की हिम्मत नहीं, उसे बचाने की। इसी समय एक व्यक्ति की उधर दृष्टि पड़ी, जो अच्छी तरह तैरना जानता है; पर खतरा उसे भी मालूम होता है! उसने हिम्मत की, यह सोच कर कि मैं निकल सकता हूं। उसने सोचा, यह बच्चा न जाने कितनी कीमत रखता है। मालूम नहीं, आगे चल कर यह कितना बड़ा वैज्ञानिक या राजनीतिक नेता बने, समाज का कितना उपकार करे! उसने अपने जीवन के मूल्य को भी तोल लिया कि मैं जो कुछ हो सकता था, हो चुका। सब सामने है। इस तरह, समाज का अधिक लाभ सोच कर वह झमाक से पानी में कूद पड़ा। कड़कड़ाती सरदी में आध घंटे तक जान आफ़त में डाले वह बच्चे को उछंग उठाये बाहर निकल आया। यह उसकी तपस्या हुई, जल का कष्ट-सहन।

इसी तरह, समझिए, किसी मकान में आग लग गयी। उसमे कोई बच्चा, वृद्ध, रोगी या अबला रह गयी। लपटें उठ रही हैं। बाहर खड़े लोग तरस खा रहे है और करुणा प्रकट कर रहे हैं। पर इससे बने क्या? इसी समय एक साहसी व्यक्ति ने

यह जाना और आगे बढ़ा। वह अपने मे इस फुर्ती और कला का अनुभव करता था कि आग की लपटों मे घुस कर उस मे फँसे व्यक्ति को निकाल लायेगा। फिर भी, खतरा तो था ही। प्रत्यक्ष मृत्यु के मुख मे जाना था। वह झपट कर आगे बढा और चतुराई से ऊपर चढ कर घर मे कूद पडा। पीठ पर उस प्राणी को लेकर बाहर निकल आया। परन्तु यह सब करते वह काफी झुलस गया। यह उसका तप हुआ, आग मे अपना शरीर उसने जलाया, समाज के कल्याणार्थ।

कोई बच्चा कहीं मेले-ठेले मे मा-बाप से बिछुड-भटक गया और रोता फिर रहा है। लोग देखते चले जाते हैं। मन मे दया भी आती है, पर निष्फल! कोई कुछ मदद नहीं करता। एक व्यक्ति ने धर्म समझा। उसने बच्चे को गोद में उठा लिया। अपने बच्चों के साथ उसे भी खिलाया-पिलाया। फिर मा-बाप का पता लगाया। अखबार मे विज्ञापन छपाया। पता लगने पर उसके मा-बाप आये, तो उनका भी आतिथ्य किया। इस तरह उसने अपने दस-बीस रुपये खर्च किये। यही 'दान' है। इसका बडा महत्त्व है।

अब तपस्या लीजिए। मान लीजिए, वह बच्चा एक गरीब आदमी को मिला, जो नित्य मजदूरी करके खाता है। उसने उस बच्चे को खिलाने-पिलाने मे और खोज-खबर लगा कर उसके मा-बाप के पास उसे पहुंचाने मे यदि दस-पाँच रुपये खर्च कर दिये, तो अवश्य ही उसके दैनिक जीवन मे कहीं ये निकलेंगे!

इस खर्च का परिमाण यदि यह हुआ कि उसे और उसके कुटुम्ब को दो-तीन दिन फांके करने पडे, केवल छोटे बच्चों को रोटी मिल पायी, तो यह उसको तपस्या होगी। उसने अन्न-त्याग किया, एक समाज-हितकर काम के लिए। भूखे रह कर तीन दिन तक उसने जो कष्ट सहा और अपने कुटुम्ब को भूखा-व्याकुल देख कर जो कष्ट का अनुभव किया, वह उसका तप है। कुटुम्ब भी तपस्वी। इस तप का उस 'दान' को अपेक्षा करोड़ गुना महत्त्व है।

कभी-कभी किसी तप से प्रत्यक्ष समाज-हित नहीं दिखायी देता है; पर होता अवश्य है। कहते हैं, अरब देश का एक बादशाह, अपने देश के किसी शत्रु पर चढ़ाई किये, सेना लिये जा रहा था। गरमी के दिन थे, कड़कड़ाती दुपहरी। रेगिस्तानी रास्ता! बादशाह प्यास के मारे तडप रहा था। सभी सिपाही प्यास से व्याकुल थे। दो-चार सिपाही आगे-आगे इधर-उधर पानी की टोह लेते चल रहे थे। एक जगह खजूर के नीचे एक बूढ़े की झोपड़ी मिल गयी। सिपाही लोग बड़े प्रसन्न हुए और उस बूढे के पास जाकर बोले कि "बादशाह सलामत आ रहे हैं, बहुत प्यासे है। यदि तेरी सुराही मे पानी हो, तो पेश कर दे; निहाल हो जायगा।" बूढ़े ने तुरन्त सुराही का पानी गिलास में किया। कुल एक गिलास पानी निकला। आगे बढ़ कर उसने बादशाह को सलाम किया और पानी पेश किया। बादशाह में जान पड़ गयी, पानी देखते ही लपक कर पानी का गिलास हाथ

में ले लिया, और पीने के लिए ओठों के समीप ले गया; पर उसकी आँखें अपनी सेना के उन असंख्य वीरों पर जा पड़ीं, जो उसके एक इशारे पर अपनी जान देने को तैयार थे। बादशाह ने गिलास ओठों से हटा लिया, एक बूँद भी मुँह में न जाने दी। एक गिलास पानी कौन-कौन पिये। उसने स्वयं पानी पीना धर्म-विरुद्ध समझा, जब कि इतने प्राणी उसी तरह तडप रहे हैं, जो उसी के अनुयायी है। बादशाह ने गिलास आगे बढाया और हाथ फैला कर कहा—'या खुदा, इस गिलास भर पानी से मेरी इस फौज की प्यास बुझ जाय।' ऐसा कह कर उसने वह गिलास का पानी पृथ्वी पर फेंक दिया। बूढे को इनाम देकर उसी तरह प्यासा वह आगे बढ गया।

बादशाह की यह तपस्या हुई। इससे उसके समाज का हित हुआ। पृथ्वी पर गिलास भर पानी फेंक देने से सम्पूर्ण फौज की प्यास क्या बुझ गयी? जी हाँ, बुझ गयी। सिपाहियों को यह बात मालूम हुई होगी, तो वे गद्गद् हो गये होंगे। इससे अधिक तृप्ति-कर और क्या हो सकता है कि बादशाह वैसी प्यास में भी हाथ में आये हुए गिलास का पानी केवल इसलिए न पिये कि उसकी फौज भी उसी तरह प्यासी है! वे सैनिक तब बादशाह के प्रति कितने अधिक वफादार हो गये होंगे। उनकी उस वफादारी का उनके समाज के लिए मूल्य है। बादशाह करोड़ों रुपये इनाम बांट कर भी अपने सिपाहियों में वह वफादारी पैदा न कर सकता था, जो उसने अपने इस तप से पैदा कर दी।

नेता जी श्री सुभाषचन्द्र बोस ने बरमा के जङ्गलों में जो तप का जीवन अपनाया, उससे आजाद हिन्द फौज में नवजीवन का सञ्चार हो गया था। यही कारण है कि नेता जी ने वह जादू कर दिखाया, जो संसार में किसी दूसरे नेता से कभी न बन पड़ा। महाराणा प्रताप का तप प्रसिद्ध ही है। पूर्वकाल के ब्राह्मण समाज-सेवा के लिए जो तप करते थे, सब जानते है। तभी तो बड़े-बड़े सम्राट् उनके चरणों की रज लेकर धन्य होते थे।

इसके विपरीत, व्यर्थ ही जो कष्ट सहे, आग में जले, वर्षा में गले या भूखों मरे, तो वह तप नहीं है ; तप का मुर्दा है। वह तो एक मूर्खता है। समाज का उससे हित क्या ? निरर्थक कष्ट-सहन से भी क्या भगवान् प्रसन्न होंगे ? हम अपना सिर खम्भे से टकरा कर फोड लें और कहें कि हम कष्ट सह कर तप कर रहे है, भगवान् को प्रसन्न करने के लिए, तो लोग क्या कहेंगे ? हमारा लड़का किसी अच्छे काम के करने में यदि साहस प्रदर्शित करे और आये हुए कष्ट का सामना करके उद्दिष्ट मार्ग पर आगे बढ़े, तो उसकी कर्तव्य-निष्ठा से हमें प्रसन्नता होगी। परन्तु यदि वह बिना किसी काम के ही मुसीबत मे पड़े, यह सोच कर कि इससे हमारे पिताजी प्रसन्न होंगे, तो आप उसकी बुद्धि को क्या कहेंगे ? उसके उस व्यर्थ कष्ट-सहन को आप तपस्या कहेंगे क्या ?

सारांश यह है कि तप या तपस्या का बडा माहात्म्य है। धर्म का यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। इसीलिए धर्मशास्त्र में

इसके वैसे गुण गाये गये हैं। परन्तु आगे चल कर हम तपस्या का रूप भूल गये। 'जन-हित' की जान इसकी अलग कर दी और 'कष्ट-सहन' के खोल को ही सर्वस्व मान बैठे! इसीलिए लोग अब तक आग मे जलते रहते हैं, पानी मे खड़े रहते हैं और और न जाने क्या-क्या करते है! कोई-कोई अपनी जीभ काट कर देवी को चढ़ा देते हैं। कहते हैं, मा इससे प्रसन्न होगी! वह कैसी मा, जो बच्चे की जीभ कटवा कर खुश हो।

सो, धर्म का अर्थ ठीक न समझने के कारण ये सब गड़बड़ें हैं। मनु ने कहा है कि तप से सब कुछ साध्य है। इसकी सत्यता के लिए आप राष्ट्र का पिछला इतिहास देख जाइए। राष्ट्र-पितामह लोकमान्य तिलक, राष्ट्रपिता महात्मा गान्धी, नेताजी श्री सुभाषचन्द्र बोस तथा इनके असंख्य अनुयायियों ने तप करके क्या कर दिखाया।

वैधव्य और ब्रह्मचर्य

हमारे धर्म-ग्रन्थों मे विधवाओ के लिए लिखा है कि उन्हें दूसरा विवाह न करके तपश्चर्या का जीवन बिताना चाहिए। इसमे इन्द्रिय-दमन तथा मनोनिग्रह समाज के लिए हितकर है। जो बहुत छोटी उम्र की विधवाएँ है, उनका विवाह कर देने की विधि है। शेष सबके लिए कहा गया है कि वे आजीवन ब्रह्मचर्यपूर्वक तप का जीवन बितायें, तो समाजका अतिशय उपकार होगा।

इसमें कारण हैं। हमारे देश में जन-संख्या की वृद्धि जो इस समय हो रही है, चिन्ता का कारण है। शेर की सन्तान संख्या मे कितनी होती है और शूकर-कूकर या भेड़-बकरियों की कितनी होती है, देखिए। देश मे जितने भी स्त्री-पुरुष हों, सब शरीर से हृष्ट-पुष्ट और सुन्दर तथा बुद्धि के धनी हों। ऐसे थोड़े लोग भी स्वतन्त्र और तेजस्वी रहेंगे। उनका पराभव कोई न कर सकेगा। परन्तु तीस के पैंतीस और पैंतीस के चालीस करोड़ जल्दी-जल्दी होते गये, तो स्थिति क्या होगी ? न अच्छा खाने को मिलेगा, न ठीक शिक्षा का प्रबन्ध हो सकेगा। दीन-हीन दशा मे कोई भी पराभव कर सकता है। इसलिए जनसंख्या को नियन्त्रित रखना परमावश्यक है। इसके लिए कृत्रिम उपाय बरतना समाज का नाश करना है! दूसरे रोग बढ़ेंगे। संयम इसके लिए आवश्यक है। इसीलिए ऋषियों ने २०-२५ वर्ष तक पूर्ण संयम के साथ ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करते हुए विद्याध्ययन का विधान किया है। स्त्रियों के लिए १६-२० समझिए। इस अवस्था तक शरीर सुदृढ़ हो जायगा और मस्तिष्क विद्या से भरपूर। इसके बाद योग्य विवाह और फिर संयम के साथ सुखकर गृहस्थ-जीवन। गृहस्थाश्रम में भी समुचित संयम और ब्रह्मचर्य अपेक्षित है। इसके लिए हमारी कुटुम्ब-प्रथा बड़ी अच्छी चीज बनी थी। नव वर-वधू अपने कुटुम्ब में, बड़े-बूढ़ों के बीच में, एक सामाजिक नियन्त्रण का अनुभव करते थे। फिर नववधू अपने मातृ-कुल भी बीच-बीच में जाती रहती थी।

जब तक उसके एक-दो सन्तान न हो जाय, वह बराबर मातृ-कुल जाती रहती था। इससे उसका मन बदलता रहता था और स्वास्थ्य ठीक रहता था। पति बाहर कमाने जाता था, तो साधारणत. स्त्री साथ न जा कर घर पर ही रहती थी। जब सन्तान का भरण-पोषण बढ़ जाता, तब पति-पत्नी साथ-साथ रहने लगते थे। सास-ससुर और ननद-जेठानी के साथ रहने से नववधू का जीवन नियन्त्रित रहता था। पति और पत्नी बहुत कम साथ-साथ रह पाते थे, इसलिए उनमे परस्पर आकर्षण रहता था। सन्तान हो जाने पर वे अधिक साहचर्य्य मे आते थे, तब प्रेम का हिस्सेदार तीसरा प्राणी बीच मे आ जाता था। इस तरह पर्याप्त संयम का मधुर जीवन बीतता था। आज-कल विवाह होते ही पति-पत्नी साथ ही साथ रहते है। थोडे दिन तक आकर्षण रहता है और फिर सदा साथ रहने से वह द्रुत गति से कम होने लगता है। संयमहीन जीवन आगे चल कर भार हो जाता है। पूंजी यदि अनियन्त्रित रूप मे खर्च की जाय और आय से अधिक व्यय किया जाय, तो दिवाला जल्दी निकलेगा! वह 'क्षय' सामने दिखायी देगा। तब पति-पत्नी एक-दूसरे को दूसरे ही रूप मे देखेंगे। चौबीसो घण्टे साथ रहने से बहुत जल्दी एक-दूसरे के विपरीत स्वभाव से परिचित हो जाते है और धीरे-धीरे असहृदयता हो जाती है। फल होता है सम्बन्ध-परित्याग या साहचर्य्य-परित्याग। जो एकदम बहुत घी पी लेगा और इससे किसी भयङ्कर रोग मे फस जायगा, उसे

बहुत दिन तक वैद्य घी की छींट भी न देगा। तभी वह बच सकेगा। सो, उतने दिन तक वैसा अनियन्त्रित जीवन बिताने के कारण ऐसा साहचर्य्य-विघात प्राकृतिक उपचार है, कड़वा! यदि पहले से ही सावधान रहे, तो ऐसी कड़वी दवा की जरूरत न पड़े।

हाँ, हम वैधव्य के विषय में कह रहे थे। सो, युवावस्था में हमें गृहस्थाश्रम स्वीकार करना चाहिए। उसके बाद यदि वियोग हो जाय, तो फिर आगे ब्रह्मचर्य का जीवन बिताना चाहिए। स्त्री की तरह पुरुष के लिए भी यही उचित है। स्त्री को विशेष रूप से अगला जीवन ब्रह्मचर्य-पूर्वक बिताने को कहा गया है। समाज मे इसकी आवश्यकता थी। हमारे समाज मे अभी तक यह दशा नहीं आ पायी है कि लड़कियों को जन्म भर वर न मिलने के कारण, 'मिस' रहना पड़े! पाश्चात्य देशों मे 'मिस' ज्यादा है, हमारे यहाँ विधवाएँ हैं। 'मिस' ने कभी भी गृहस्थ-सुख नहीं देखा, जब कि विधवा ने उसका अनुभव किया और आगे समाज-हित के लिए वैराग्य धारण किया। यदि हमारे यहाँ हमारी बहनें वैसा आत्म-त्याग न करतीं, पति के न रहने पर एक के बाद दूसरा विवाह करती जातीं, तो वैसी परम्परा पड़ जाती और पुरुष भी विधवा से विवाह करना अधिक अच्छा समझते, क्योंकि उन्हें गृहस्थी चलाने का अनुभव होता है। कन्या में अनुभव-हीनता होती है, इसीलिए पाश्चात्य देशों में विधवा के साथ विवाह करने को लोग अधिक उत्सुक रहते हैं।

इंग्लैण्ड के एक बादशाह ने तो एक विधवा के साथ विवाह करना इतना पसन्द किया कि उसके लिए राज-गद्दी भी छोड दी! इसी का परिणाम है कि उन देशों मे 'मिसो' की संख्या दिन-पर-दिन बढती जा रही है। क्या समाज के लिए यह अच्छा है? हम ने मान लिया कि वे सब 'मिसें' बिलकुल ब्रह्मचर्य से जन्म बिताती हैं और उनमे वैसा कोई कालुष्य-लेश भी नहीं आ पाता, जिसकी कल्पना हमारे देश की विधवाओ के सम्बन्ध मे अमरीका की 'मिस मेयो' ने अपनी 'मदर इण्डिया' नामक बदनाम पुस्तक मे की है, तो भी हम यह तो कहेंगे ही कि उन बेचारियों को समाज ने गार्हस्थ्य-सुख से वञ्चित क्यों रखा? स्त्री और पुरुष मे परस्पर आकर्षण प्रकृति ने पैदा किया है। वे साथ-साथ रहना चाहते हैं। 'मोह न नारि नारि के रूपा।' कारण, स्त्री तथा पुरुष एक-दूसरे के पूरक हैं। पुरुष मे स्नेह-मार्दव की कमी है, इसलिए वह स्त्री की ओर देखता है। स्त्री मे साहस तथा पुरुषार्थ वैसा नहीं है, इसलिए वह पुरुष को चाहती है। इस प्राकृतिक मधुर सम्बन्ध का विधान सामूहिक रूप मे पाश्चात्य देशों ने पैदा कर दिया है। हमारे यहाँ ऐसा नहीं है। कोई स्त्री ऐसी न मिलेगी, जो वर के प्राप्त न हो सकने के कारण जन्म भर अविवाहित रही हो। यदि मान लें कि स्त्री को पति के साथ रहना ही चाहिए, स्त्री अकेली रह कर भ्रष्टाचार फैला देगी, तो हमें यह भी सोचना पडेगा कि 'मिस' तथा विधवा इन अवस्थाओं मे अधिक खतरनाक कौन है? 'मिस' ने गार्हस्थ्य-

सुख का अनुभव ही नहीं किया और विधवा ने किया, पर आगे प्रिय-वियोग से वह उसे छोड़ संन्यासिनी बन गयी—वैधव्य-जीवन बिताती हुई अपने कुटुम्ब की सेवा करने लगी। दो में से कौन अधिक चिन्ता का कारण हो सकती है? किस पर हमें दया करनी चाहिए?

सो, हमारे धर्माचार्य्यों ने समाज-संचालन के लिए कहा कि विधवाएँ यदि पुनर्विवाह न करें, तो अच्छा। वे तप का जीवन बिता कर समाज का कल्याण करेंगी। एक विधवा सती अपने कुटुम्ब भर का संचालन कर सकती है। कुटुम्ब में ऐसी सेवा-सहायता की कितनी आवश्यकता रहती है, सब जानते हैं। बड़ी उम्र की विधवाओं को शिक्षा दी जाय, तो वे अच्छी अध्यापिकाएँ बन सकती हैं। स्त्री-शिक्षा का काम द्रुत गति से चलाना है। इसके विना समाज ऊँचे उठ ही नहीं सकता! पुरुष-वर्ग की शिक्षा समाज को उन्नत नहीं कर सकती, यदि स्त्री-शिक्षा न हो। बच्चों पर मा का ही प्रभाव पडता है, पिता का उतना नहीं। परन्तु स्त्री-शिक्षा के प्रसार में बड़ी बाधा है अध्यापिकाओं का अभाव! गृहस्थ अध्यापिकाएँ वैसा काम नहीं कर सकतीं। वे अपने छोटे-छोटे बच्चों को सँभालें, या पाठशाला की पढ़ाई में ध्यान दें। उन्हें अपने घर के बच्चों की चिन्ता रहती है। वे छुट्टी भी बहुत लेती हैं। पति की बदली हुई, तो वे भी गयीं। 'मिस' अध्यापिकाएँ अच्छी नहीं। वे कन्याओं में सरसता लाने की जगह विरसता लायेंगी;

शुष्कता फैलायेंगी ! कारण, उन्हें गृहस्थ-जीवन की सरसता तो कभी मिली नहीं। वे लड़कियों को गृहस्थ-जीवन की क्या शिक्षा देंगी ? वे तो 'स्त्री-अधिकार' का हल्ला मचा कर लड़कियों को 'लड़ना' सिखायेंगी—'हो जा पड़ोसिन मो-सी !' लड़कियों में यह बात यदि आ गयी, तो जहाँ जायँगी, सुख न पायेंगी। कर्तव्य की ओर दृष्टि न देकर सदा 'अधिकार' पर दौड़ेंगी। अर्द्धाङ्गिनी बनने की जगह वे पुरुष की प्रतिद्वन्द्विनी बन जायँगी ; जैसे किसान, मजदूर, श्रमजीवी, पूँजीपति आदि सामाजिक भेद हैं, उसी तरह 'मिसें' 'स्त्री-वर्ग' तथा 'पुरुष-वर्ग' का भेद पैदा करके गृहस्थी का सुख सुखा देना चाहती हैं। 'जगत्' को 'जीर्णारण्य' वे बना देना चाहती है। इसलिए कन्या-पाठशाला मे 'मिस' को अध्यापिका के रूप मे रखना भय का स्थान है। विधवाएँ अपने अनुभव से और तपोमय संयत जीवन से लड़कियों पर अच्छा प्रभाव डाल सकती हैं। समय भी पूरा दे सकती है। इस लिए, अध्यापिका का पद ये अच्छी तरह से सँभाल सकती है। इसके अतिरिक्त, चिकित्सिका तथा 'नर्स' आदि का काम भी ये अच्छी तरह कर सकती है। सरकारी नौकरी मे, जहाँ स्त्री का प्रवेश है, विधवाओं को पहले लेना चाहिए। हमें विधवाओं के सम्बन्ध में अपना गिरा हुआ दृष्टि-कोण बदलना होगा। उन्हें सम्मान देना चाहिए। वे वन्द-नीय संन्यासिनी है।

हाँ, समाज मे इस बात की भी छूट होनी चाहिए कि यदि

कोई विधवा अपना पुनर्विवाह करना ही चाहती है, तो मजे से करे। उस के वैसा करने से हम नाराज क्यों हों? उसका वह अधिकार है। यदि समाज-हित के लिए वह स्वेच्छया अपने अधिकार का उपयोग न करके तपश्चर्य्या का व्रत ग्रहण करे, तब और बात है। धर्म तो यही है। परन्तु यदि ऐसा कोई न करे, विवाह करके साधारण जीवन ही बिताना चाहे, तो हमें इस के लिए पूर्ण अनुमति ही नहीं, पूर्ण सहयोग देना चाहिए। हां, 'सब विधवाओं को पुनर्विवाह कर ही लेना चाहिए' ऐसा प्रचार हम यदि न करें और उनमें संयम तथा शील का जीवन बिता कर समाज-सेवा की भावना भरें, तो अधिक अच्छा। फिर, समाज अपना मार्ग स्वयं बना लेता है। देश, काल, परिस्थिति के अनुसार सामाजिक नियम बनते-टूटते रहते हैं, जिन में कहीं-कहीं पात्र-विशेष को छूट भी रहती है।

सो, विधवा का जीवन 'अधवा' (मिस) की अपेक्षा अधिक चिन्तनीय नहीं है, न दमनीय ही है। अधवा से समाज को अधिक खतरा है। अधवापन ही वस्तुतः समाज का अत्याचार है। इस अत्याचार को मिटाने के लिए एक बड़ा उपाय है कुछ बहनों का आत्म-त्याग, जिसे हम 'वैधव्य' कहते हैं। यदि पवित्र और तपोमय वैधव्य-जीवन सम्भव न हो, तो फिर पुनर्विवाह साधारण बात है।

तीर्थ-स्थान

धर्म में तीर्थ-स्थानों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। किसी विशिष्ट प्रेरणाप्रद पवित्र स्थान को 'तोथ' कहते है। प्रत्येक जाति

के अपने तीर्थ होते हैं, हमारे भी हैं। परन्तु दूसरों के तीर्थों से हमारे तीर्थों में जो विशेषता है, देखने और समझने की चीज है। हमारे प्रत्येक तीर्थ के मूल में आध्यात्मिकता का पुट है। यही सब से बड़ी विशेषता है।

तीर्थों की कई श्रेणियां हैं। कुछ तीर्थ सांस्कृतिक होते हैं, कुछ राजनैतिक और कुछ दूसरे ढंग के। सब मे धर्म की भावना मुख्य है। जहाँ बैठ कर हमारे ऋषियों ने तप तथा आत्म-चिन्तन करके हमें अमर साहित्य दिया, वे हमारे सांस्कृतिक तीर्थ हैं। हिमालय के किसी भी प्रदेश में चले जाइए, आप को एक प्रेरणा मिलेगी। इसी लिए वहाँ स्थान-स्थान पर बद्रीनारायण (बदरिकाश्रम), केदारनाथ आदि तीर्थ बना दिये गये हैं। हिमालय की उपत्यका में ऋषिकेश-हरिद्वार आदि भी ऐसे ही तीर्थ हैं, जहाँ आज-कल साधारण बस्तियां दिखाई देती हैं। नैमिषारण्य भी हमारा सांस्कृतिक तीर्थ है। तक्षशिला, नालन्दा, विक्रमशिला आदि भी हमारे सांस्कृतिक तीर्थ हैं, जो आज ध्वंसावशेष हैं। काशी भी हमारा सांस्कृतिक तीर्थ है, जिसमें राजनीति की भी विशेषता रही है। हिन्दी के परमाचार्य पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी का दौलतपुर वाला वह घर हमारा पवित्र तीर्थ है, जहाँ वे जनमे और इतने दिन रहे। प्रयाग का 'हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन-भवन' हमारा सांस्कृतिक तीर्थ है, जिसमे राजनीति का भी पुट है, क्योंकि यहीं से हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने का कार्य-क्रम संचालित हुआ। विश्वकवि श्री रवीन्द्रनाथ

ठाकुर का 'शान्ति-निकेतन' हमारे आधुनिक तीर्थों में प्रमुख है। जुही (कानपुर) का वह घर हमारा अमर तीर्थ है, जहाँ बैठ कर आचार्य द्विवेदी 'सरस्वती' की अर्चना किया करते थे। इसी तरह छोटे-बड़े हमारे सहस्रशः सांस्कृतिक तीर्थ हैं, जहाँ जाने से हमें दैवी प्रेरणा मिलती है।

हमारे राजनैतिक पुराने तीर्थों में अयोध्या, मथुरा, माया (कनखल), अवन्तिका (उज्जैन), द्वारका, काञ्ची और काशी ये सात मुख्य है। पूर्वकाल मे समस्त भारतवर्ष का शासन इन्हीं सात केन्द्रों से होता था। उस समय यह देश अन्तर-राष्ट्रीय राजनीति का संचालन करता था। किसी निर्बल देश को कोई सबल देश अन्यायपूर्वक जब दबोच लेता था, तो वह (पद-दलित देश) इन सात प्रधान केन्द्रों में से किसी एक की शरण में जाता था और अपना मामला उपस्थित करता था। यहाँ से उसे सहायता मिलती थी और वह देश बन्धन-मुक्त होकर पुनः स्वतन्त्र होता था। इसी लिए कहा है—'सप्तैता मोक्ष-दायिकाः'—ये सातो पुरी मुक्ति देने-दिलाने वाली है। इन सातो शासन-केन्द्रों का राजनैतिक महत्त्व पुराणों में वर्णित है। कुछ झलक वेदों में भी है। ध्यान रखना चाहिए कि 'सप्तैता मोक्ष-दायिकाः' जिन केन्द्रों के लिए कहा गया है, उनमे दूसरे तीर्थों के नाम नहीं हैं ; चार मुख्य 'धाम' भी अलग है। यदि राजनैतिक मुक्ति से अभिप्राय न होता, तो बद्रीनारायण, जगन्नाथ, रामेश्वर आदि धाम भी साथ अवश्य रखे जाते। परन्तु ऐसा

नहीं किया गया। स्पष्ट ही वे हमारे प्रेरणाप्रद राजनैतिक तीर्थ थे, जो बाद में आध्यात्मिक मात्र मान लिये गये और 'मुक्ति' या 'मोक्ष' से मतलब 'जीवनमरण-राहित्य' लिया जाने लगा। पर कुछ भी हो, श्रद्धालु जनों ने इन तीर्थों का अस्तित्व तो बनाये रखा। अयोध्या का राम से, मथुरा का कृष्ण से तथा काशी का विद्या-संसर्ग से अधिक महत्त्व बढ़ा। काशी को फिर से विद्या-केन्द्र महर्षि मालवीय ने बनाया।

अर्वाचीन हमारे राजनैतिक तीर्थों में मेवाड़ का चित्तौड़ तथा हल्दीघाटी, छत्रपति शिवाजी महाराज के वे दुर्दम दुर्ग, झाँसी को रानी लक्ष्मीबाई का वह सग्राम-केन्द्र आदि मुख्य है। इसके बाद पूना का वह मकान, यदि अभीतक कहीं हो, जहाँ हमारे राष्ट्रपितामह लोकमान्य पं० बालगंगाधर तिलक ने जन्म लिया था, प्रणम्य है। 'सेवाग्राम' का वह श्रद्धेय आश्रम, जहाँ राष्ट्रपिता महात्मा गान्धी बैठ कर राष्ट्र का संचालन करते थे, हमारा तीर्थ है। कलकत्ते का 'महाजाति-सदन' हमारा राजनैतिक तीर्थ है, जिसकी नीव नेताजी श्री सुभाषचन्द्र बोस ने रखी थी। वह घर भी हमारा तीर्थ है, जहाँ नेता जो ने जन्म लिया था। उस घर का वह कमरा हमारा परम तीर्थ है, जहाँ से वह असर सेनानी योगबल द्वारा हमे मुक्त करने के लिए कहाँ से कहाँ चला गया था। प्रयाग का 'स्वराज्य-भवन' हमारा राजनैतिक तीथ है और अमृतसर का 'जलियाँ वाला बाग' हमारा अविस्मरणीय तीर्थ है। ऐसे तीर्थों की यात्रा करने से जीवन को एक स्फूर्ति मिलती है।

राष्ट्र के चारो सिरों पर हमारे चार 'धाम' हैं, जो संस्कृति तथा आध्यात्मिकता के साथ राजनीति का पुट देते है। ऐसे महान् तीर्थों की यात्रा करने से दुर्गम पर्वत-श्रेणियाँ, समुद्र की उत्ताल तरंगें और दुस्तर नद-नदी आदि देखने को मिलते हैं। यह 'आनुषङ्गिक' फल है। इन तीर्थों के वल पर ही हमारी राष्ट्रीय भावना भूतकाल में अखण्ड रही है और प्राकृतिक दुर्गम क्षेत्रों मे भ्रमण करने की साहसिक परम्परा हम में रही है। एक मदरासी भी हरिद्वार तथा टेहरी-प्रदेश को 'अपना' समझता रहा है और एक बंगाली या काश्मीरी भी उस प्रदेश में आत्मोयता रखता है, जहाँ हमारा रामेश्वर-धाम है। इन तीर्थों के कारण ही हिन्दी राष्ट्र-भाषा का रूप धारण कर सकी, जिसका राजनैतिक महत्त्व आगे चल कर समझ में आया।

सो हमारे तीर्थ साधारण नहीं है। श्रद्धालु जनों ने इन के अस्तित्व को बनाये रखा, यद्यपि इन के महत्त्व को "माहात्म्य" बना दिया। कुछ भी हो, उन्हों ने परम्परा स्थिर रखो। तीर्थ-यात्रा का महत्त्व है, पर उन के अनुष्ठान में भी बुद्धि चाहिए। आज कल देखा जाता है, वृद्धाएँ एक-एक पैसा जोडती है, जगन्नाथ जी के दर्शन करने जाने के लिए। वे अपने बच्चों को घी-दूध न देकर सूखी रोटियाँ खिलाती है, तीर्थ जाने के लिये पैसा इकट्ठा करने की धुन में। घर के लोगों की कठिन बीमारी में भी वे पैसा इस आवश्यक काम में नहीं

लगाती हैं। किसी तरह सौ-दो सौ जोड़ कर जगन्नाथ जी चल देती हैं। कुछ रेल-टिकट में दे दिये और कुछ तीर्थों के धूर्तों ने ठग लिये! क्या इस से भगवान प्रसन्न होंगे ? अपना धर्म तो पालन किया नहीं, बच्चों को अच्छी खुराक न दी, न उनके पढ़ाने में ही चार पैसे खर्च किये। और, उस तरह जोड़ कर दस-बीस दिन में सब फूँक दिया! यह धर्म नहीं है। हाँ आवश्यक काम करके यदि कुछ बचे, तो मजे से सब परिवार तीर्थ-यात्रा करो, आनन्द लो! यह भी जीवन का एक अंग है।

तीर्थों का सुधार करना भी जरूरी है। नये राष्ट्रीय तीर्थों का निर्माण भी आवश्यक है। पूना मे तिलक-मन्दिर, और दौलतपुर या जुही मे आचार्य द्विवेदी का 'सरस्वती-मन्दिर' बनना चाहिए। इस के लिये राष्ट्रीय सरकार को ही आगे आना चाहिए।

व्रत और पर्व

हमारे व्रत तथा पर्व भी धर्म के मुख्य अंग है। व्रत कहते हैं 'उपवास' को। पर्व का अर्थ है उल्लास-पूर्ण क्षण—त्यौहार।

पहले हम 'व्रत' का महत्त्व देखें। हमारे यहाँ अनेक व्रत प्रचलित है। मास मे दो व्रत तो सर्वमान्य है, जो अब हम छोड़ते जा रहे है! दोनो पक्षों की 'एकादशी' तिथि हमारे व्रत के लिए निश्चित की गयी थी। पन्द्रह दिन मे जो कुछ पेट में गड़बड़ी रह जाती थी, वह चौबीस घटे के उपवास से ठीक

हो जाती थी। शरीर शुद्ध हो जाता था। बच्चों को और गर्भवती स्त्रियों को छोड़ शेष घर के सब लोग यह व्रत रखा करते थे। एकादशी के दिन का बचा हुआ सब अन्न तथा घी आदि द्वादशी के दिन किसी अच्छे धर्म-गुरु को सादर समर्पित किया जाता था। जो ब्राह्मण–साधु जनता में धर्म-जागरण या सांस्कृतिक अभ्युत्थान का ही पुण्य कार्य सदा करते थे, उनका और उन के कुटुम्ब का जीवन-निर्वाह बहुत अच्छी तरह इससे हो जाता था। न कोई किसी से चन्दा माँगता था, न धर्म-प्रचार के लिए वेतनभोगी 'उपदेशक' रखे जाते थे। बड़े-बड़े विद्वान् तब निश्चिन्त हो कर वैसे बड़े-बड़े ग्रन्थ लिख कर हमारे साहित्य को समृद्ध करते थे, जिन पर आज भी हम गर्व करते हैं। न किसी ग्रन्थ पर कोई किसी से रायल्टी लेता था, न पारिश्रमिक। यही कारण है कि उस समय वे ग्रन्थकार 'आप्त' समझे जाते थे और उनके वचनों का आदर होता था। समाज पर उन के जीवन-निर्वाह का कोई बोझ भी न था।

आजकल एकादशी आदि का व्रत विकृत रूप में आ गया है! रोटी–दाल की जगह पेड़ा, बरफी और रबड़ी-मलाई खायी जाती है। पेट और खराब कर लिया जाता है! द्वादशी को सीधा-दान की कोई बात है नहीं! दिया भी, तो न जाने कहाँ पहुंच जाता है। इस तरह सकादशी-व्रत का क्या माहात्म्य ? वर्ष भर में और भी शतशः व्रत-विधान विविध उद्देश्यों से बनाये गए, जो चल रहे हैं; उसी तरह टूटी-फूटी दशा

में। कुछ छूटते-टूटते जाते हैं। जब हम उनकी उपयोगिता और पद्धति ही भूल गये, तब वे कब तक चलें? फिर भी, हमारी मा-बहनें बहुत से व्रत बड़ी निष्ठा से करती हैं और अपनी-अपनी आत्मा को सन्तोष देती है। आत्म-सन्तोष भी एक लाभ ही है। कुछ न कुछ धार्मिक प्रवृत्ति भी बनी हुई है।

व्रतों की ही तरह हमारे यहाँ पर्व भी विशेष उद्देश्य से हैं। इन्हें हम कई श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं। होली, दिवाली, और दसहरा, ये तीन हमारे राष्ट्रीय पर्व हैं। राष्ट्र का प्रत्येक जन इन में सम्मिलित होता है। रामनवमी, जन्माष्टमी आदि जयन्तियाँ ऐसे पर्व है, जिन में सांस्कृतिक और राजनैतिक पुट है। उपाकर्म (रक्षा-बन्धन) हमारा सांस्कृतिक पर्व था, जो अब अत्यन्त विकृत हो गया है।

हमने दीवाली, होली, और दसहरा को राष्ट्रीय पर्व बतलाया है। इसका मतलब यह कि इस देश के मुसलमानों को तथा ईसाइयों को भी ये तीनो पर्व मनाने चाहिए। इन का किसी सम्प्रदाय से कोई सम्बन्ध नहीं है। कुछ कहानियाँ इनके साथ जोड़ दी गयी हैं, जो बाद की चीजें हैं। यदि हिन्दू, मुसलमान और ईसाई, सब मिल कर एक साथ इन राष्ट्रीय पर्वों को मानने लगें, तो कितना अच्छा हो। उत्सव मनाने की विधि मे भेद हो जाय, यह अलग चीज है। दीवाली को हिन्दू लक्ष्मी जी की पूजा करते है, तो मुसलमान उस दिन जगमगाती हुई मस्जिद में विशेष नमाज पढ़ा करें और ईसाई इसी तरह सजे हुई दीप-

सुशोभित गिरजाघरों में विशेप प्रार्थना किया करें। होली और दसहरा का पर्व भी ऐसा ही है। हम इन राष्ट्रीय पर्वों की व्याख्या और स्पष्ट करेंगे।

दीवाली का त्यौहार हमारा एक फसल का उल्लासपूर्ण स्वागत है। मनुष्य ने जब खेती करना सीखा होगा, तब पहली फसल कतकी या खरीफ की हुई होगी। यह प्रकृति-प्रसाद है। चैती या रबी के लिये तो कृत्रिम रूप से जल देने की आवश्यकता होती है, जो मनुष्य के दिमाग में वाद की चीज है। पहले यही कतकी शुरू हुई होगी। कार्तिक में खेत (ज्वार, मक्का, वाजरा आदि मोटे नाजों से ही नहीं, बासमती आदि देव-दुर्लभ धानों से भी) भरे हुए पके रूप में सामने होते हैं। उस समय किसान को कुछ काम खेतों में करना नहीं होता है। वह फुर्सत के क्षण पाता है। लक्ष्मी उसके सामने नजर आती है, खेतो मे लहराती हुई। उसके स्वागत की वह तयारी करता है। वरसात के चार महीनों मे घर जो विकृत हो गये है, उन्हें वह ठीक करता है। सफाई और लिपाई-पुताई होती है। चारो ओर झकाझक नजर आता है। अमावस्या की अँधेरी रात भी जगमगा उठती है। भारत कृपक देश है। उसके यहाँ लक्ष्मी जी पधारती है। सब उत्फुल्ल हो कर खुशी मनाते है, दिवाली करते है। इस तरह यह एक राष्ट्रीय फसली त्यौहार है। सब को मानना चाहिए, भले ही सम्प्रदाय-भेद से मनाने में किंचित् प्रकार-भेद हो।

एक बात और समझने की है। बहुत पुराने समय मे यह

नववर्षारम्भ का उत्सव रहा होगा। पहले हमारे यहाँ शरद् से नव संवत् का आरम्भ होता था, बाद मे बसन्त से होने लगा होगा। वेद में 'जीवेम शरदः शतम्' आदि मंत्र इसकी झलक देते हैं—हम सौ शरद् जियें। वर्षा के अनन्तर 'शरद्' ऋतु का प्रारम्भ होता है और शीत के प्रारम्भ होने तक यह रहती है, दो मास। बड़ी सुन्दर ऋतु होती है, न गरमी, न जाडा, न बरसाती कीचड। खाने के लिए नयी फसल का घर में भरा हुआ विपुल अन्न। और, गौओं के लिए जंगल में चाहे जितना चारा। खूब दूध-घी। कैसी सुन्दर ऋतु! इसी से नये वर्ष का आरम्भ मानते होंगे। इसमे भाषा-विज्ञान भी कुछ साक्षी देता है। 'वर्ष' तथा 'वर्षा' एक ही धातु से निष्पन्न है। 'अब्द' भी वर्ष को कहते है। 'अब्द' बादल को भी कहते है। वर्ष समाप्ति, अब्द-समाप्ति, अर्थात् इस साल की बरसात गयी। नये जीवन का स्वागत। इस तरह वर्ष अथवा अब्द की समाप्ति पर नवसंवत्-आरम्भ होता होगा। एक फसल के कट चुकने पर ही दूसरा संवत् चलना ठीक है। यों यह नव-संवत् का भी उत्सव दीवाली है।

होली दूसरा फसली त्यौहार है। जब हम कुओं और नहरों से पानी देना जान गये, जब इतनी जानकारी मनुष्य को हो गयी, तब यह दूसरी फसल चेती या रबी सामने आयी। 'होला' उस अधपके नाज को कहते है, जो इस समय खेतों मे तयार खड़ा होता है। किसान देख कर खुश होता है और नाचता-

गाता है। यही 'होली'-या 'होलिका' त्यौहार है। बहुत दिन बाद इसमें कई कहानियाँ भी मिल गयीं आकर। उनका कुछ लाक्षणिक अर्थ भी प्रतीत होता है। प्रह्लाद और आह्लाद या उल्लास एकार्थक शब्द है। हिरण्य सुवर्ण को कहते है। हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष समाज के जमींदार तथा पूँजीपति भी हो सकते है, जो जनता के प्रह्लाद (आह्लाद) को अपने अत्याचारों से नष्ट करने मे कुछ उठा न धरते थे। पर वह उन किसानों का प्रह्लाद फिर भी मरा नहीं। वे फिर भी नाचते ही गाते रहे। हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष ही समाप्त हो गये, नरसिंहों के हाथों!

इस तरह इस बडी फसल का यह त्यौहार होली है।

दीवाली का त्यौहार भी उसी तरह चलता रहा, चल रहा है। वह तो हमारा आदि पर्व जान पड़ता है। हाँ, नया वर्ष शरद् की अपेक्षा बसन्त से अच्छा जान पडा। बडी फसल के बाद ही तो 'वर्ष' की समाप्ति समझी जाय। अब 'वर्ष' शब्द रूढ हो गया; बारह मास के एक चक्र में। शरद् की ही तरह बसन्त भी सुन्दर ऋतु है। एक विशेषता भी है। वर्षा-जन्य रोग जो मलेरिया ज्वर आदि शरद् तक चलते है, उनका बसन्त में नितान्त अभाव! एक बात और। प्रकृति मे भी नव जीवन दिखायी देता है। सब वृक्ष और लताएँ फल-फूलों से भरपूर! इसीलिए नव-संवत्सर बसन्त के प्रारम्भ (चैत) से समझा जाने लगा। होली त्यौहार है पिछले वर्ष की सुन्दर समाप्ति का। इस तरह यह एक राष्ट्रीय पर्व है।

दसहरा—दुसहरा या विजयदशमी भी हमारा राष्ट्रीय पर्व है—राजनैतिक। वर्षाकाल में हमारी फौजें जहाँ की तहाँ जम कर विश्राम करती थीं और सेनापति लोग अपनी नीति का निर्धारण करते थे। वर्षा के बाद दुर्गा-पूजन होता था। दुर्गा, शक्ति! दुर्गा-सप्तशती मे कथा है कि एक राक्षस इतना प्रबल और उत्पाती हो गया कि उस ने संसार मे खलबली मचा दी। उसके आतंक से सब त्रस्त हो गये। वह किसी के मारे मरता न था! सब देवता हार गये। तब क्या हो! उस समय विष्णु ने अपनी शक्ति दी, ब्रह्मा ने अपनी और रुद्र-इन्द्र आदि ने अपनी-अपनी शक्ति दी। सब की शक्तियाँ इकट्ठी हुईं, तो महाशक्ति दुर्गा का प्रादुर्भाव। इस दुर्गा या दुर्दमनीया शक्ति से उस महादानव का संहार हुआ। यह है संगठन-शक्ति। सिंह शक्ति का प्रतीक है। सो, दुर्गा-पूजन करके विजय-दशमी के दिन रण-यात्रा होती थी, विजय-प्रस्थान का यह महोत्सव। जब कोई विजेय न रहा, तब भी महोत्सव जारी रहा और हमारे उत्कर्ष का एक प्रतीक यह अब भी है। इस तरह यह हमारा राष्ट्रीय पर्व है।

अनन्तर श्री रामचन्द्र जी की विजय-यात्रा का भी इससे सम्बन्ध हो गया। हम आज भी विजयदशमी उल्लासपूर्वक मनाते हैं और अनन्त काल तक मनाते रहेंगे।

रामनवमी और जन्माष्टमी आदि के सम्बन्ध में विशेष कुछ कहना है ही नहीं। राम और कृष्ण के जयन्ती-उत्सव भी राष्ट्रीय

पर्व हैं। कुछ लोग राम-नवमी और जन्माष्टमी को साम्प्रदायिक चीज समझते हैं, जो गलती है। राम और कृष्ण का किसी सम्प्रदाय-विशेष से कोई खास सम्बन्ध नहीं है। इसी लिए जैन और बौद्ध भी इन्हें अपने ढंग से मानते-मनाते है। देश के ईसाई तथा मुसलमान भी कभी समझेंगे ही। अब ये उत्सव लोग व्रत के रूप मे मनाते हैं। सो तो कोई बात नहीं; पर कई अन्ध-परम्पराएँ और कुरीतियां चल पड़ी है, जो त्याज्य हैं। जन्माष्टमी के दिन रात के बारह बजे लोग स्नान करते हैं! कहते हैं— जन्म हो गया, सूतक के स्नान करो! भला, प्रति वर्ष जन्म होता है श्री कृष्ण भगवान् का क्या? हम प्रति वर्ष जन्मोत्सव करते हैं, या उनका जन्म ही प्रति वर्ष होता है? मनु ने तो आधी रात को स्नान करने को मना किया है। इससे भी बढ़ कर यह कि एक खीरे को चीर कर उसमें शालग्राम को रख देते है और बारह बजे रात को उससे निकाल लेते हैं; यह कह कर कि जन्म हो गया। फिर उस खीरे को तराश कर प्रसाद बांट देते है! मानो देवकी को ही . । क्या कहा जाय! मैं तो कहीं भी खीरे का प्रसाद लेता ही नहीं हूं। ये मूर्खता-पूर्ण काम बन्द होने चाहिए।

उपाकर्म हमारा सांस्कृतिक पर्व था। वेद के विद्वान् इस दिन विशिष्ट वैदिक विधियां सम्पन्न करते थे। यह हमारा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पर्व आज अत्यन्त विकृत दशा में है। ब्राह्मणों के लड़के दो-दो पैसे के लिए राखी बांधते फिरते हैं। लोग सिर हिला

कर इनकार कर देते है, तब खिसिया कर आगे चल देते है, फिर आगे। इस तरह दिन भर बेइज्जती कराते फिरते हैं। अब तो यह त्यौहार इसी रूप में ठीक है कि लड़कियाँ राखी बाँधें और अपने अभिभावकों से लड़-झगड़ कर साडी लें, रुपये लें। घर मे बढ़िया भोजन बने और सब मजे से बैठ कर उड़ायें। न वह उपाकर्म रहा, न वैदिक विधि। पर रक्षा-बन्धन जिस रूप में सामने आ गया, वह एक पारिवारिक उल्लास है, सुन्दर है।

इसी तरह अन्यान्य व्रत-पर्व हैं। कुछ कहीं संशोधन परि-मार्जन अपेक्षित है। होली की गाली-गलौज और गन्दगी तो बन्द हो ही जानी चाहिए। रंग भी किसी पर जबर्दस्ती न डालना चाहिए। गाओ-बजाओ, अच्छे नाटकों का अभिनय करो, कोई शिष्ट मनोरंजन करो। यही तो उत्सव है। यदि शिष्ट मनोरंजन दोगे तो लोग उधर ही लग जायेंगे। इस के विरुद्ध तुम 'पवित्र होली' के नाम से होली पर मुहर्रमी वाता-वरण पैदा करोगे, तो काम बिगड़ जायगा! मनोरंजन-प्रधान यह उत्सव है।

इसी तरह अन्यान्य व्रत-पर्वो के संबन्ध मे समझिए। यहाँ तो सभी विषयों का थोडा-थोडा निर्देश भर किया जा रहा है।

आज्ञा-पालन या अनुशासन

माता, पिता, ज्येष्ठ बन्धु, आचार्य आदि गुरुजन हमारा हित चाहते है। उन का अनुभव अधिक होता है। वे अपने ज्ञान

तथा अनुभव के बल पर हमे उचित आदेश-निर्देश देते है। ऐसी दशा में उन के इन आदेश-निर्देशों का पूर्ण भक्ति और श्रद्धा के साथ पालन करना हमारा धर्म है। इससे हमारा कल्याण होगा, हमें सुख-समृद्धि मिलेगी, हम संकटों से बचेंगे। कभी-कभी और कहीं-कहीं आज्ञा-पालन का अतिशय महत्त्व सम्पूर्ण समाज के हित के लिए होता है और इसी लिए समाज वैसे आज्ञा-पालन के लिए जबर्दस्ती भी करता है। सेना मे आज्ञा-पालन बड़ी कड़ाई से कराया जाता है, कारण, उस पर समाज की रक्षा-व्यवस्था अवलम्बित है। प्रत्येक सैनिक को यह सोचने का अधिकार नहीं है कि इस दिशा मे हम गोली चलावें। यह सोचना सेनाध्यक्ष का काम है, जो ज्ञान मे श्रेष्ठ समझ कर उस काम पर नियुक्त किया गया है। जो आज्ञा पालन नहीं करता उसे सजा मिलती है।

परन्तु इस धर्मानुष्टान मे भी बुद्धि की आवश्यकता है। मान लीजिए, सेनाध्यक्ष क्षणिक उन्माद का शिकार हो जाय। उसका दिमाग क्षण भर में ही खराब हो गया और उसने अपने एक सैनिक को हुक्म दे दिया कि 'तू मुझे गोली से मार दे—मेरे ऊपर फायर कर दे।' तब उस सैनिक का क्या कर्तव्य है? उसे तो शिक्षा मिली है कि सदा अफसर का हुक्म मानो। तो क्या वह गोली चला कर अपने अफसर को मार दे? उसका उस समय क्या धर्म है? सैनिक-कर्तव्य की उसे जो शिक्षा मिली है, उसमे तो कहीं यह कहा नहीं गया था कि जब ऐसा हो, तो वह क्या

करे ! न जाने किस समय क्या घटना घटे, कौन जानता है। कोई ज्योतिषी तो है नहीं ! फिर, असंख्य जनों के साथ असंख्य घटनाएँ घट सकती हैं, एकदम अचिन्तित ! तब फिर इन सब के लिए क्या-क्या निर्देश दिये जायँ। एक-एक घटना के भी देश, काल तथा पात्र के भेद से अनन्त भेद हो सकते है। इसीलिए धर्म-निर्णय मे 'अन्तरात्मा' को भी एक प्रमाण मनु ने माना है और श्री कृष्ण ने बुद्धि पर जोर दिया है। तोता-रटन्त सैनिक-कर्तव्य जिसने याद किया होगा, अपनी बुद्धि जिसके न होगी, वह तुरन्त उसे मार देगा और फिर इस 'धर्म' का पालन करने के पुरस्कार मे मृत्यु-दण्ड प्राप्त करेगा। 'कोर्ट मार्शल' मे वह मृत सेनाध्यक्ष गवाही देने न आयेगा कि इसका अपराध नहीं है, मैंने ही दिमाग की खराबी से इसे वैसी आज्ञा दे दी थी ! इसके विपरीत, यदि सैनिक मे विवेक-बुद्धि होगी, तो समझ जायगा कि इसके दिमाग मे कुछ खराबी आ गयी है। वह उसकी आज्ञा का पालन न करेगा और किसी तरह, उससे बड़े या छोटे, दूसरे सैनिक-अधिकारी को इसकी सूचना देगा। उचित कार्रवाई होगी और तब 'आज्ञा' के न पालन करने के कारण उसे पारितोषिक मिलेगा। कारण, उस समय वह अधिकारी इस स्थिति मे न था कि उसकी आज्ञा का पालन किया जाता।

दिमाग की खराबी मे, अज्ञान मे या अतिशय क्रोधावेश मे दी हुई आज्ञाओं पर विचार करने की जरूरत होती है। अज्ञान-अवस्था मे कुन्ती ने यदि द्रौपदी-विभाजन की आज्ञा दे दी थी,

तो वह पाण्डवों को मान्य न होनी चाहिए थी। अतिशय क्रोधावेश में जमदग्नि ने अपने पुत्र को आज्ञा दी कि तू अपनी मा का सिर काट दे, तो वह परशुराम को मान्य न होनी चाहिए थी। पिता के कहने पर मा का सिर काट लिया परशुराम ने; तो क्या कोई धर्म किया? उन्हें समय बचा जाना चाहिए था और फिर क्रोध कुछ शान्त होने पर समझा देना चाहिए था कि आप यह क्या कराने जा रहे थे! एक धर्म दूसरे धर्म को बाधा पहुंचावे, तो सोचने की बात है। पिता की आज्ञा मानना धर्म है और मा की सेवा करना भी धर्म है। पिता की आज्ञा न मानना अधर्म है और मा को हानि पहुंचाना भी अधर्म है। अधिक बल किस मे है? पिता की आज्ञा मान कर मा को मार डालना क्या धर्म है? इससे समाज का क्या कल्याण? 'धर्म यो बाधते धर्मः न स धर्मः, कुवर्त्म तत्'—जो 'धर्म' किसी दूसरे धर्म को बाधा पहुंचाये, वह धर्म नहीं है, कुवर्त्म है, पाप है! यदि बाधक प्रबल हो तो अवश्य अल्पबल धर्म बाधित होगा। 'अहिंसा' धर्म है। एक व्यापक नियम। अब कुछ छूट दी, अपवाद रखा—'आततायी को जान से मार देना चाहिए।' यह 'अपवाद' भी धर्म, आततायी को मार देना भी धर्म। उस मुख्य और व्यापक नियम का एक अंश में बाध हुआ। परन्तु पिता की आज्ञा मान कर मा को मार देने में यह बात नहीं है। वहां सामान्य-विशेष-भाव या उत्सर्ग-अपवाद रूप नहीं। दोनो स्वतन्त्र विधियां हैं—पिता की आज्ञा मानना भी और माता के प्रतिकूल आचरण का

निषेध भी। तब देखना होगा कि औचित्य तथा समाज-कल्याण किधर है। सब सोच कर करना चाहिए।

इसी तरह अज्ञानावस्था मे दी हुई आज्ञा का पालन उचित नहीं है। मान लो, आपके पिताजी को मालूम नहीं कि कुनैन का इञ्जेक्शन मियादी ज्वर में न लेना चाहिए। उन्होने इतना सुन रखा है कि कुनैन के इञ्जेक्शन से ज्वर जाता रहता है। तुम मियादी ज्वर से पीडित हो गये। तुम्हारे पिताजी ने आज्ञा दी—'कुनैन का इञ्जेक्शन ले ले।' तो क्या तुम उनकी आज्ञा का पालन करोगे? ऐसा करना धर्म है? उनकी इस आज्ञा का पालन किया, तो मर कर उन्हें दु ख-सागर मे डुबो दोगे! उनसे कहना होगा कि इस ज्वर मे वह इञ्जेक्शन नहीं लिया जाता। इस समय उनकी आज्ञा का पालन करना धर्म नहीं है। इस तत्त्व को न समझ कर तरह-तरह की कहानियाँ गढ दी गयी है!

कुन्ती की उस आज्ञा के सम्बन्ध मे जो कहानी है, वह तो आदि से अन्त तक गलत है! कोई गँवार भी नया विवाह करके बहू को साथ लाता हुआ इतना उतावला नहीं देखा गया कि दूर से ही अपनी मा से चिल्ला कर कहे कि—'मा, मैं आज एक बहुत बढ़िया चीज लाया हू।' अर्जुन तो विद्वान् और गम्भीर पुरुष थे। बच्चे न थे। फिर, बड़े और छोटे भाई साथ मे थे! अच्छा मान लो, वे हर्षोत्फुल्ल और उतावले ही हो गये थे, अपनी 'चीज' प्रकट करने के लिए; तो झूठ क्यों बोले? यह क्यों कहा कि 'मैं एक बहुत अच्छी चीज 'भिक्षा' मे लाया हू?' मा से

झूठ ! और कोई झूठ बोलता है, तो अपनी प्रशंसा-उत्कर्ष के लिए, या अपमान-अपकर्ष के लिए ? वें तो लक्ष्य-वेध कर एक असाधारण गौरव के साथ द्रौपदी को लाये थे। क्या 'भीख' माँग कर कोई चीज लाने में इससे भी अधिक गौरव है ? खैर यह भी मान लिया कि उन्होंने हड़बड़ी में 'भीख' का नाम ले लिया ! तो, कुन्ती को उस बढ़िया चीज को देखने की इच्छा क्यों न हुई ? अद्भुत चीज कौन नहीं देखना चाहता है ? नित्य तो वे भिक्षा-प्राप्त समाग्री संभाल कर रखती थीं और फिर सब को अपने हाथ से परोसती-देती थीं। आज इतनी बढ़िया चीज का नाम सुन कर भीतर से ही कैसे कह दिया कि 'बाँट खाओ ?' क्या पाण्डव ऐसे भुखमरे थे कि दरवाजे पर ही सब खाने लगते थे ? इस आज्ञा से पाण्डवों को बहुत आश्चर्य तथा दुःख हुआ, बाद में कुन्ती को भी ! वे अपने उस आज्ञा-दान पर पछतायीं भी ! पर किया क्या जाता। पाण्डवों को आज्ञा-पालन जरूरी था ! धर्म था। पर वे उस आज्ञा को मान कर द्रौपदी को बाँट कर खा क्यों नहीं गये ? माता की आज्ञा तो वैसी ही थी और खाने की चीज समझ कर ही उन्होंने वैसी आज्ञा दी थी। कुछ भी हो, इस तरह की कहानियों से मति-भ्रम होता है और धर्माधर्मनिर्णय में इनसे सहायता नहीं मिलती। उल्टे बौड़मपन बढ़ता है। हमें इतनी ही शिक्षा ग्रहण करनी चहिए कि इस तरह माता-पिता की आज्ञा का पालन मत करो, जैसे कि पाण्डवों ने किया ! बुद्धि-योग जरूरी चीज है, धर्म-

निर्णय करने के लिए। आंखें चाहिए अपनी। कहा है—यस्य नाऽस्ति स्वयंप्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम् ?—जिसके अपनी बुद्धि है ही नहीं, शास्त्र उसे क्या लाभ पहुंचा सकता है ? गीता मे कहा है—'किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिता.'—क्या कर्तव्य है और क्या अकर्तव्य, इसका निर्णय करने मे बड़े-बड़े लोग भी गडबडा गये हैं।

साराश यह कि आज्ञा-पालन एक उत्तम धर्म है, पर अन्य धर्मों की तरह इसका भी स्वरूप समझने के लिए बुद्धि अपेक्षित है।

श्राद्ध और मूर्ति पूजा

धर्म मे श्राद्ध तथा मूर्ति-पूजा का भी स्थान है। प्रत्येक समाज में श्राद्ध—मृतक-श्राद्ध—आप देख सकते हैं। बड़े-बडे नेताओं और महात्माओं के जो भव्य स्मारक बनवाये जाते हैं, श्राद्ध के ही एक रूप हैं। 'समाधि' और मकबरे क्या हैं ? श्राद्ध के एक रूप है। प्रत्येक व्यक्ति अपने माता-पिता का ऋणी होता है, भले ही समाज के लिए वे नगण्य हों ! सब लोग अपने माता-पिता के प्रति कृतज्ञता प्रकट करना चाहते हैं। सब लोग वैसे स्मारक नहीं बनवा सकते है। इसके लिए एक महीने का एक पक्ष ही नियत कर दिया गया है—'पितृपक्ष'। लोग किसी दिन अपने पूर्वजों का स्मरण कर, कुछ दान-पुण्य करें, पूड़ी-खीर खायं, तो हर्ज क्या ? जो न करें, न करें। पर जो ऐसा श्राद्ध करें, तो हमारा हर्ज क्या ?

समाज बुरा क्यों माने ? उस दिन कुछ लोगों को कोई भोजन कराता है, तो कराने दो। तुम लोग जब वैसे अनिष्ट जनों को पार्टियाँ देते हो, तब ये बेचारे सनातनी तुम्हारा तो खण्डन करते नहीं फिरते है ? किसी का खिलाया हुआ पितरों को पहुंचता है या नहीं, इस झंझट में हम क्यों पड़ें। हम तो अपनी कृतज्ञता प्रकट करने के लिए वैसा करते है और इससे हमारी अन्तरात्मा प्रसन्न होती है। इसी लिये यह हमारा धर्म है। यदि इससे तुम्हें कोई कष्ट पहुंचता हो, तो बताओ। तब हम विचार करेंगे कि यह धर्म क्या छोड़ दिया जाय ? जब तक ऐसा नहीं और हमारी अन्तरात्मा को सन्तोष मिलता है, ठीक है। तुम सिनेमा में सैकड़ों रुपये फूक देते हो, अपना मन खुश करने के लिए। हमारा यह व्यय वैसा ही समझ लो।

मूर्ति-पूजा तो सभी देशों में है। बड़ी-बड़ी मूर्तियाँ सुन्दर स्थानों में खड़ी की जाती है। उनके प्रति सम्मान भी प्रकट किया जाता है। उनका अपमान असह्य होता है। हम भी ऐसा ही करते है। राम, कृष्ण, हनुमान आदि की मूर्तियाँ हम स्थापित करते है; तो बुरा क्या ? हम उनके सामने हाथ जोड़ते है, तो आप हँसते हैं! परन्तु आप तीन रँगों के कपड़ों के एक जोड़ को, तिरंगे झंडे को, जब बड़े ही अदब से सलामी देते है—ध्वजपूजन करते हैं; तब अपने ऊपर क्यों नहीं हँसते ? हम सब लोग उस तरह ध्वज-वन्दना करके राष्ट्र के प्रति सम्मान प्रकट करते है। यह प्रतीक-पूजा है। सो, मूर्ति-पूजा और प्रतीक-पूजा संसार मे सदा रहेगी।

जो मूर्ति-पूजा का खण्डन ढोल वजा कर किया करते हैं, उन्हें भी मूर्ति-पूजा करते मैंने देखा है। इस लिए इस विषय पर अधिक कुछ लिखना व्यर्थ है। हाँ, मन्दिरों मे भोग-पूजा पर लाखो-करोडों का व्यय अवश्य चिन्त्य है। वह सब रुपया संस्कृति और संस्कृत भाषा के प्रचार-प्रसार मे लगना चाहिए। पूजा तो चार फूलों से, दो मालाओं से और तुलसी के चार दलों से पर्याप्त है। 'पत्रं पुष्प फलं तोयम्' वस, यही पूजा की सामग्री मे पर्य्याप्त है। हमें अपनी अनन्त देवोत्तर धन-राशि बहुत अच्छे कामों मे खर्च करनी चाहिए।

धर्म और ईश्वर-भक्ति

ईश्वर-भक्ति एक अलग चीज है, ऐसा कह सकते है हम; वर्तमान ईश्वर-भक्ति के भेदों तथा ढगो को देख कर। वैसे, धर्म-शास्त्र मे ईश्वर-भक्ति तो नहीं, पर 'आस्तिक्य' को कहीं-कहीं धर्म के अंगों मे हम देखते है। 'आस्तिक्य' का मतलब है ईश्वर की सत्ता मे या परलोक मे विश्वास। आस्तिक्य-बुद्धि से भी धर्म मे प्रेरणा मिलती है। वहुत से लोग हमारी सामाजिक व्यवस्था से तो नहीं डरते; पर ईश्वर की सत्ता तथा परलोक (नरक आदि) के भय से डर कर ही अधर्म से हटते है। कुछ लोग ऐसे है, जो कर्तव्य-प्रेरणा से नहीं, स्वर्ग-सुख के लोभ से ही कितने ही पुण्य कार्य कर देते है। इससे समाज को तो लाभ ही हुआ न ?

विपरीत फल भी निकला है। ईश्वर का नाम लेकर चालाक

लोगों ने दुनिया को धोखा भी खूब दिया है। अपने को परमेश्वर का दूत बता कर भोली जनता को कितनी बार गुमराह किया गया है। अधर्म फैलाये गये है। पर इसमें ईश्वर को सत्ता का क्या दोष ?

भगवान की भक्ति का अनन्त माहात्म्य है। भक्ति कहते हैं प्रेम को, जो सेवा से अभिव्यक्ति होती है। कोई हम से प्रेम करता है, यह कैसे जान पड़ेगा ? वह हमें अच्छी-अच्छी चीजें खिलाये-पिलाये, हमें सुख दे, दुख-दर्द मे काम आये, तब हम समझते हैं कि यह हमसे प्रेम करता है। यदि ऐसा न हों और वह मुँह से हमारा नाम भी लेता रहे, हमारे भरोसे भी रहे, तो हम यह न कहेंगे कि वह हमसे प्रेम करता है। 'भक्ति' शब्द संस्कृत की जिस (भज्) धातु से बना है, उसका अर्थ भी 'सेवा करना' ही है। फलतः 'भगवद्भक्ति' का अर्थ हुआ—'भगवान की सेवा करना'! अच्छा तो भगवान् हमें कहाँ मिलें कि हम उनकी सेवा करें ? हमें बतलाया गया है कि यह चराचर विश्व भगवान् की विराट् मूर्ति है, उनका शरीर है। इस की सेवा करना ही भगवान् को भक्ति है। अपनी शक्ति के अनुसार विश्व-सेवा ही भगवद्भक्ति है। यदि हम मे अधिक शक्ति नहीं, तो अपने कुटुम्ब की ही अच्छी से अच्छी सेवा करें और उसे सब तरह से अच्छा बनाने का प्रयत्न करें। वह भो ससार ही है। जनता को ही जनार्दन समझ कर उसकी सेवा करने का विधान किया गया है। हिन्दू जाति में अनेक सम्प्रदाय हैं, जिनमें वैष्णव-सम्प्रदाय बहुत प्रसिद्ध

है। वैष्णव लोग भक्ति को प्रधानता देते हैं। वैष्णवों के मुख्य चार सम्प्रदाय हैं और इन चारो के भक्ति-ग्रन्थों मे एक प्राचीन प्रमाण सर्वत्र उद्धृत मिलता है। इस मे भगवान् को प्रसन्न करने का एक सबसे उत्तम उपाय बताया गया है और उसमें यह भी कह दिया गया है कि इससे अतिरिक्त अन्य कोई भी उपाय या साधन ऐसा नहीं है, जिससे भगवान् को प्रसन्न किया जा सके। वह सुन्दर मंत्र यह है—

वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण पर पुमान।
विष्णुराराध्यते पन्था नान्यत्तत्तोषकारणम्॥

—कोई भी अपने वर्ण तथा आश्रम के कर्तव्य-कर्मों का विधिवत् पालन करके ही विष्णु भगवान् को प्रसन्न कर सकता है और इससे अतिरिक्त उन्हें प्रसन्न करने का कोई साधन है ही नहीं।

स्पष्ट है कि सामाजिक आचार—कर्तव्य—पर जोर है। बात भी ठीक। आपके पिता आप पर तभी प्रसन्न होंगे, जब आप अपने घरवालों को अच्छी तरह रखेंगे, छोटे भाई-बहनो से स्नेह का बर्ताव करके उन्हें सुखी रखेंगे, मा तथा बड़े भाइयो का सन्मान करेंगे और उनकी सेवा करेंगे तथा घर की सुख समृद्धि बढायेंगे। पिता की प्रसन्नता का अन्य साधन नहीं। यदि आपने ऐसा न किया, घर की कोई चिन्ता न की और कह दिया 'हमे इससे क्या मतलब ?' और घरवालो की छाती पर ही मुफ्त मे खाते-पीते रहे, तो क्या तुम्हारे पिता जी प्रसन्न होंगे ? भले ही फिर

तुम उनका नाम लेते रहो और चाहे उनका ध्यान करते रहो, वे तुमसे कुढेंगे ! हम तो उसी से खुश रहेंगे, जो हमारे बगीचे को सॅवार-सिंगार कर अच्छी तरह रखे। जो उसे उजाडे और हमारे गीत गाये, उससे जी जलेगा। सो भगवद्भक्ति का सर्वोत्तम रूप है अपने-अपने कर्तव्य का पालन करना।

आज विभिन्न रूपों मे जो भगवान् की उपासना-भक्ति चालू है, उस पर झगडने या वाद-विवाद करने की जरूरत नहीं है। सब को अपने रास्ते चलने दो। हाँ, यदि किसी सम्प्रदाय मे भगवान् की उपासना की कोई ऐसी पद्धति चालू है, जिससे समाज को हानि पहुचती है, तो उस अंश का हमे विरोध करना होगा। किसी समय जङ्गली लोग भगवान् को प्रसन्न करने के लिए नर-बलिदान देते थे। समाज ने इस जघन्य कृत्य को रोक दिया। इस तरह, किसी सम्प्रदाय मे गौ-जैसे उपयोगी तथा सात्त्विक प्राणी को कत्ल करके भगवान् की भक्ति की जाती है, तो उसे बन्द करना होगा, क्योंकि वैसा करना प्रत्यक्ष समाज की हानि है। हाँ, समाज को हानि पहुंचाये विना तुम कुछ भी करो, चाहे सन्ध्या-वन्दन करो, चाहे नमाज पढ़ो, चाहे हरि-कीर्तन करो।

ईश्वर-भक्ति के नाम पर समाज मे अनाचार फैलाना अपराध है। भगवान् श्री कृष्ण के नाम पर बडा अनाचार फैलाया गया है। उनके साथ गोपियों के वैसे सम्बन्ध की कल्पना करके जो तरह-तरह की लीलाएँ कल्पित की गयी है और 'रास' के नाम से

जिनका प्रदर्शन होता है, क्या ठीक है ? हम यह भी देखते हैं कि अधिकतर इन लीलाओं की कल्पना 'विरक्त' साधुओं ने की है। वैसे विरक्त महात्माओं ने जो उत्ताल शृङ्गार रस की सरस क्रीडाओं का वैसा वर्णन किया है, उससे क्या समझें! ऐसी सरस क्रीड़ाओं का वर्णन है कि यहां उद्धृत नहीं कर सकते। इनके अनुकरण पर ग्रामीण जनों ने जो संकेत-व्यंजना की है, लडके-लडकियों पर उसका क्या प्रभाव पडता है। मैंने देखा, गेरुए कपडे पहने हुए संन्यासी लोग अपने आश्रमियों में जब रास-लीला कराते हैं, तो तन्मय हो जाते हैं। उन्हें राम-लीला में उस तरह तन्मय होते मैंने कभी नहीं देखा। कृष्ण-लीला के उत्कर्ष-पूर्ण अंश कंस-वध आदि को एकदम छोड ही दिया गया है। ऐसा जान पडता है कि प्रकृति-विरुद्ध जाने का यह परिणाम है। बुद्ध भगवान् वीतराग थे। उन्होंने संसार छोड दिया और बडा काम किया। परन्तु भेडें भी सिंह बनने लगें, तब ? उनका अनुसरण करके लाखों बौद्धभिक्षु बने। कुछ दिन तो ठीक चला-प्रवाह था, पर कुछ ही दिन बाद प्राकृतिक वेग ने उस मेड को तोड दिया! भिक्षुओं में व्यभिचार फैला। भयङ्कर प्रतिक्रिया हुई। समाज में एक गडबडी फैल गयी। बौद्धों की देखा-देखी वैदिक हिन्दुओं में भी आजन्म ब्रह्मचारियों की जमात बनी! अनन्त 'आदित्य-ब्रह्मचारी' निकल पड़े। निकम्मे लोगों को एक आड मिल गयी 'नैष्कर्म्य' संन्यास की। पुजने लगे। यह खी-मलीदा कहां जाय ? और कुछ नहीं, तो वाग्-विलास ही सही!

मनसा, वाचा, कर्मणा, तीन प्रकारों मे से दो तो निर्वाध प्राप्त हो गये और कृष्ण-गुणगान का सहारा मिल गया! एक नशा। कथा कहनेवाले भी 'गोपी-प्रेम' पर ही झूमने लगे! समाज पर इसका प्रभाव पड़ना ही था!

यही नहीं, निर्गुण-निराकार भगवान् के भक्तों ने भी यही सब किया है। 'सूफी' सन्तों ने जो प्रेम-कथाएँ लिखी है, क्या है? 'दिमागी ऐय्याशी' ही तो है! यदि उनके चेलों ने कहा—महाराज, यह क्या? तो उत्तर मिल गया—'हमारा इशारा समझो, किधर है! यह तो सान्त की अनन्त की ओर जाने की व्यञ्जना है।' वस, वहक गये लोग। ऐसे ही काव्य आगे चल कर 'रहस्यवादी' नाम से हिन्दी में प्रचलित हुए!

हिन्दी के नूतन रहस्यवादी कवियों तथा काव्यों के वारे मे भी यही बात है। जो रहस्यवादी या छायावादी कवि हमारे सामने है, उनमें से कितने उस परब्रह्म परमात्मा मे लीन रहने वाले है? रोते किसी के लिए है और कह यह देते है कि यह तो व्यञ्जना है उस अनन्त के प्रति। जब राष्ट्र अंग्रेजी राज्य से लड़ रहा था, तब ये रहस्यवादी कवि वैसी कविताएँ करके मौजें ले रहे थे! ये सब समाज की विकृतियाँ है। सव ने ईश्वर का सहारा लिया है! हमें इस तरह की ईश्वर-भक्ति से सावधान रहना चाहिए।

मार्ग साफ है। गृहस्थाश्रम स्वीकार करो, कर्तव्य का पालन करो। सुख और शन्ति का यह मार्ग है। अवस्था के अनुसार

आश्रम-परिवर्तन होगा। वर्णाश्रम के कर्तव्यों का पालन करो। यही भगवान् की भक्ति है। यदि कोई ईश्वर की सत्ता नहीं मानता, पर सामाजिक नियमों का पालन करता है, तो उससे झगड़ने का कोई कारण नहीं है। कोई नास्तिक भी किसी ईश्वर भक्त से क्यों चिढ़े, यदि समाज को उससे कोई हानि नहीं। हमें हिरण्यकशिपु के समान अनीश्वरवादी और प्रह्लाद के समान ईश्वर-भक्त न होना चाहिए। हिरण्यकशिपु ने दुष्टता की। किसी का लड़का यदि आध्यात्मिक विचार भिन्न रखता है, तो क्या उसे वैसा दण्ड दिया जाय? परन्तु प्रह्लादजी को देखिए। श्री नृसिंह भगवान् प्रकट होते हैं और हिरण्यकशिपु को पकड़ कर उसका पेट फाड़ने लगते हैं। प्रह्लाद भी सामने खड़े हैं। वे भगवान् से यह प्रार्थना नहीं करते कि 'भगवन्, आप इन्हें मारते क्यों हैं? इनकी बुद्धि शुद्ध कर दीजिए, जिससे ये आपके भक्त बन जायं।' यदि वे ऐसी प्रार्थना करते, तो भगवान् अवश्य अपने भक्त की बात सुनते। चीज को नष्ट कर देने की अपेक्षा उसे अच्छा बना देना अधिक अच्छा है। भगवान् क्या नहीं कर सकते? परन्तु प्रह्लाद चुपचाप खड़े तमाशा देखते रहे! मानो समझ रहे हों कि ईश्वर को न मानने वाले को ऐसा ही दण्ड मिलना चाहिए। समाज के लिए ऐसी बुद्धि अच्छी नहीं। जब हिरण्यकशिपु का पेट फाड़ दिया गया, तब प्रह्लाद ने उन (अपने पिता) की सद्गति के लिए भगवान् से प्रार्थना की! इससे क्या नतीजा निकला?

हम भगवान् की भक्ति करते है और हमारा भाई नास्तिक है, ईश्वर या परलोक की सत्ता नहीं मानता, तो इसके लिए हम उसे दण्ड न देंगे. न देना ही चाहिए। समाज ने जो नियम इस लोक की सुख-समृद्धि के लिए बनाये है, उन्हें न मानने से ही हम किसी को यहां उचित दण्ड दे सकते है। ईश्वर या परलोक की सत्ता मानना-न मानना अलग बात है। यदि कोई ईश्वर की सत्ता नहीं मानता है और ईश्वरीय नियमों के अनुसार यह अपराध है, तो ईश्वर की ओर से उसे दण्ड मिलेगा ही। हम बीच मे क्यो कूद पडे? महात्मा गान्धी का निधन होने के बाद जब कुछ महात्माजी के 'भक्तों' ने कुछ लोगो पर आक्रमण कर दिया, जिन्हें वे 'अपराधी' जनों के 'गिरोह' का समझते थे, तो वे भी पकडे गये और उन्हें जेल की यातनाए भुगतनी पड़ीं! महात्मा जी के अनुयायी (कांग्रेसी जन) सत्तारूढ़ थे। उन्होंने ही इन 'महात्मा-भक्तों' को सजा दी। इसी तरह यदि कोई ईश्वर-भक्त किसी अनीश्वरवादी को केवल इसलिए सजा देगा कि वह ईश्वर-भक्त क्यों नहीं, तो ईश्वर-भक्त जी को ईश्वर अवश्य दण्ड देगा। उसका काम इन्होंने जो संभाल लिया!

सामयिक तथा वर्गीय विधि-निषेध

पहले कहा जा चुका है कि कुछ विधि-निषेध सामान्य (व्यापक) होते है और कुछ विशेष। इसी तरह कुछ विधि-निषेध सामयिक भी होते है। कुछ समय के लिए कोई नियम

चना दिया जाता है और फिर उसके बाद वह शिथिल पड जाता है। हमारे यहाँ किसी समय समुद्र-यात्रा का निषेध कर दिया गया। यह एक सामयिक निषेध था। पहले हमारे यहाँ समुद्र-यात्रा को बहुत महत्त्व प्राप्त था। हमारे जहाज दूर-दूर तक जाते थे और संसार के बडे-बडे देशों से हमारा आयात-निर्यात का व्यापार था। श्री सत्यनारायण की कथा तो प्राय. सभी हिन्दुओ ने सुनी होगी। उसमे भी समुद्र-यात्रा का वर्णन है। उससे पता चलता है कि हमारे व्यापारी दूर-दूर तक जहाजी व्यापार करते थे।

परन्तु एक समय कदाचित् ऐसा आया, जब समुद्री रास्ते से देश को खतरा पैदा हो गया। बाहरी शत्रुओं के इस भय का सामना करने के लिए भारतीय जनों की समुद्र-यात्रा निषिद्ध कर दी गयी, जिससे कि सब जहाज तथा कुशल नाविक यहीं रहें और सम्भावित खतरे का मुकाबला करें। दस-बीस वर्ष तक ऐसा खतरा बना रहना कोई बडी बात नहीं है। इतने दिन तक लोग खाली नहीं बैठ सकते। सब किसी-न-किसी काम मे लग गये होंगे और फिर धीरे-धीरे वह जहाजी व्यवसाय लोग भूल ही गये। अनन्तर वह 'समुद्र यात्रा का निषेध' एक रूढि के रूप में बहुत दिन तक चला। समय आया, जब हमें समुद्र-यात्रा करना जरूरी हो गया और तब वह रूढि अपने-आप भङ्ग हो गयी।

इसी तरह वर्ग-विशेष के लिए भी नियम बनते हैं। हम

स्त्री-शिक्षा में और पुरुष-शिक्षा में कुछ अन्तर करते है। कुछ युवकों का दिमाग ज्ञान-विज्ञान की ओर न जा कर कला-कौशल की ओर अधिक प्रवृत्त होता है। ऐसी दशा में सभी को ज्ञानी-विज्ञानी बनाने के लिए जोर लगाना शक्ति का अपव्यय करना है। ज्ञान-विज्ञान को तरह ललित कलाओं का भी अपना महत्त्व है। इसीलिए सरस्वती की कल्पना में पुस्तक के साथ वीणा भी रखी गयी है। किसी राष्ट्र की पूर्ण सरस्वती तभी समझी जायगी जब उसमें ज्ञान-विज्ञान के साथ ललित कलाओं का भी समुचित योग हो। ललित कलाओं से जो रस मिलता है, उससे जीवन सरस तथा आप्यायित होता है। ज्ञान-विज्ञान से दिमाग सुख-समृद्धि की सृष्टि करता है, पर वह बाह्य उपकरणों से प्राप्त होती है। ज्ञान मस्तिष्क की चीज है और कला हृदय की। स्वभावतः स्त्री में ललित कला का सुन्दर विकास हो सकता है। संगीत के लिए जिस मधुर कण्ठ की आवश्तकता है, वह प्रकृति ने स्त्री को ही दिया है। चित्र-कला आदि मे जिस भावोद्रेक की आवश्यकता है, वह स्त्री में अतिसुलभ है। काव्य मे भी भाव का ही प्राधान्य है। स्त्री का दिमाग कला मे अधिक चल सकता है, ज्ञान-विज्ञान की अपेक्षा। सो स्त्री ने छोड़ दिया, शायद पुरुष की बराबरी करने के लिए। इससे उसने अपनी विशेषता खो दी! पाक-विद्या पर स्त्री का अधिकार होना चाहिए, जो उससे छूट गया। अच्छी-से-अच्छी चीज बनानेवाले पुरुष (हलवाई) ही आपको मिलेंगे। घर में लाखों मे नहीं, करोड़ों स्त्रियों मे शायद एकाध

वैसी बढ़िया चीजें बना सके। वस्त्र सीने की कला भी स्त्री के हाथ से प्रायः जाती रही। इसे भी पुरुष-दर्जियों ने अपना लिया। चित्र-कला में भी पुरुष ही आगे हैं। संगीत के भी परमाचार्य पुरुष ही हैं। स्त्री को इन सब कलाओं के सीखने का अधिकार न हो, सो बात नहीं है। सब के लिए मार्ग खुला है। पर इन्होंने कला-पथ को हीन समझ कर छोड़-सा दिया और ज्ञान-विज्ञान की दौड़ में सम्मिलित हुईं। परन्तु वह इनका प्रकृति-प्रदत्त क्षेत्र शायद वैसा नहीं है। चलीं, पर पुरुष से आगे निकलना तो दूर, उसकी बराबरी पर भी न पहुंच सकीं! संसार में इतने अविष्कार हुए हैं, उनमें से स्त्री के किये हुए कितने हैं? भारत को अवश्य लीलावती जैसी विदुषी को उत्पन्न करने का सौभाग्य प्राप्त है, जिसने गणित पर अपनी छाप बैठायी। ज्ञान-विज्ञान में भी गार्गी तथा मैत्रेयी के नाम अमर हैं। पर ये तो अपवाद मात्र हैं। हम सामान्य स्त्री की बात कर रहे हैं। लीलावती और गार्गी सब नहीं बन सकतीं। कोई रोक नहीं है, बनें, यदि बन सकें। पर वे यदि अन्य विषयों की साधारण शिक्षा लेकर ललित कलाओं में ही अध्यवसाय प्रकट करें, तो अधिक सफलता मिलती। संगीत तथा चित्रकला आदि इन्हीं में सजते हैं। पुरुष ने इन कलाओं में [illegible], पर प्रकृति इस क्षेत्र में उसकी सहायक नहीं है।

एक बात और। संसार को सुन्दरतम बनाना है, स्त्री तथा पुरुष एक-दूसरे की कमी को पूरा करते हैं, [illegible]

नहीं है, दूसरे में पौरुप नहीं है। दोनो मिल कर पूर्ण हो जाते है। स्त्री भी उन्हीं विपयों को लेकर बी० ए० हे, जिन्हें लेकर पुरुप, तो क्या सुख ? कुछ भेद हो, तो आकर्पण बढ़े ; उपयोगिता भी बढ़े। एक बी० ए० या साहित्यरत्न हो,. तो दूसरे को संगीत-मर्मज्ञ होना चाहिए। तब एक-दूसरे से आकर्पिक होंगे। यह बात छूट गयी, इसी लिए जीवन वैसा सरस नहीं रहा।

वेदों का पडंग अध्ययन कितना दुरूह है, जानने वाले जानते है। यदि कोमलमति छात्राओं के लिए वेदाध्ययन सामान्यतः निषिद्ध कर दिया गया और कला-क्षेत्र मे उनकी प्रवृत्ति को उत्तेजन किसी समय दिया गया, तो बुरा क्या है ? सामान्यत वैसा निपेध किया गया होगा, पर जो वैसी प्रचण्ड प्रतिभा रखती थीं, उधर प्रवृत्ति भी थी, उनके लिए मना थोडे ही था! तभी तो वेद-सम्प्रदाय मे उन विदुपी महिलाओं के नाम आते है। यदि सामान्यतः कह दिया जाय कि "लडकियों को शुष्क बी० ए०-एम० ए० परीक्षाओं मे अपना कोमल मस्तिष्क न टकराना चाहिए ; क्योंकि इससे उनका स्वास्थ्य नष्ट होता है और इसका मानव-सन्तति पर बुरा प्रभाव पडता है। उन्हें साधारणत मैट्रिक तक शिक्षा प्राप्त करके कला के किसी मधुर क्षेत्र मे प्रगति करनी चाहिए, या घर-गृहस्थी का समुचित संचालन करके संसार को सुखमय बनाना चाहिए।" तो क्या स्त्री पर अत्याचार कहा जायगा ? विशिष्ट महिलाएँ बी० ए०, एम० ए० करेंगी ही, पर हम उन सद्‌गृहस्थ महिलाओं को क्या कम महत्त्व देंगे ?

इसी तरह कारीगरों (शूद्रों) को गहन वेदाध्ययन में सिर मारने को मना किया गया होगा। दस-बीस वर्ष तक वे वेद पढ़, फिर लोहे या लकड़ी की कारीगरी सीखें, तो कब जा कर उसमें निपुणता प्राप्त करेंगे? साधारण शिक्षा ली और अपने क्षेत्र के कला-कौशल में अभ्यास करने लगे। आज-कल भी सोचा जा रहा है कि मैट्रिक के अनन्तर दो विभाग कर दिये जायेंगे : १—कला-कौशल का २—ज्ञान-विज्ञान का। पुराने समय के ये दोनों विभाग १—शूद्र-विद्या तथा २—द्विजाति-विद्या (वेद आदि) के विभाग कहे जा सकते हैं। शूद्र शब्द से तो अवज्ञा की गन्ध तभी से आने लगी, जब से हम ने इन्हें हेय दृष्टि से देखा।

सो, इस प्रकार वर्ण-भेद से विद्या-भेद करना कोई अन्याय नहीं है। समाज के लिए किसी वर्ण से कोई काम जबर्दस्ती भी करा लिया जाता है और किसी वर्ण को कोई काम करने से रोक भी दिया जाता है। जिस समय यह नियम बना था, उस समय क्या परिस्थिति थी, इसका हमें ज्ञान नहीं। जो हम समझ सके, यहाँ लिख दिया। पर कोई न कोई बात तो होगी ही। यदि ऐसी कोई बात नहीं, तो यह नियम टूटेगा ही। युग के अनुसार धर्म-नियमों में फेर-फार होता ही रहता है। पात्र तथा वर्ग-विशेष की दृष्टि से भी धर्म-भेद होता है।

धर्म और संस्कृति

संस्कृति एक पृथक् चीज है। सामान्यतः धर्म तो सभी देशों

का—मानव मात्र का—एक हो सकता है, पर संस्कृति में सर्वत्र भिन्नता मिलेगी। प्रत्येक देश की अपनी संस्कृति होती है, जो परम्परागत भावनाओं की प्रतिमूर्ति कही जा सकती है। हमारे ऊपर सन्निहित वातावरण का प्रभाव पडता रहता है। यह प्रभाव संस्कार के रूप मे परम्परया चलते-चलते एक ऐसा व्यवस्थित रूप ग्रहण कर लेता है, जिसे हम 'सस्कृति' कहते हैं। संस्कृति में भावनाएँ, भाषा, वेश-भूषा तथा रीति-रिवाज आदि अनेक बातों का सन्निवेश है। किसी देश की राष्ट्रीयता नष्ट करनी हो, तो वहाँ की संस्कृति नष्ट कर दो। आधार के न रहने पर जैसे बढ़िया से बढ़िया महल धड़ाम से गिर पडता है, उसी तरह संस्कृति-हीन जाति की जातीयता नष्ट हो जाती है!

यहाँ हमें राष्ट्र, जाति तथा संस्कृति का स्वरूप समझ लेना चाहिए। किसी प्राकृतिक सीमा से परिवेष्टित प्रदेश-विशेष को राष्ट्र कहते हैं, यदि उसकी अपनी संस्कृति और सत्ता हो। उस राष्ट्र में परम्परा से जो जन-समूह रहता है, उसे 'जाति' कहते है। अंग्रेजी में इसी को 'नेशन' कहते हैं। जाति की जो विशेषता है, उसे ही संस्कृति कहते हैं। इंग्लिश एक जाति, इंग्लिस्तान राष्ट्र और उसकी अपनी इंग्लिश संस्कृति। अफ़गान एक जाति, अफ़गानिस्तान राष्ट्र और अफगानी संस्कृति। इसी तरह हिन्दू जाति, हिन्दुस्तान राष्ट्र और हिन्दुस्तानी संस्कृति। हिन्दू-संस्कृति और हिन्दुस्तानी संस्कृति एक ही बात है। हिन्दू जाति है, सम्प्रदाय नहीं। इस जाति की अपनी विशेष संस्कृति है। उसका देश-

वासियों को गर्व होना चाहिए। इस देश के लोग पारलौकिक बातों मे ईसाई या इस्लामी मत ग्रहण करके सम्प्रदायत: ईसाई या मुसलमान हो गये, पर भारतीयता तो उनकी नष्ट न होगी न ? किसी भी मत को ग्रहण करके वे भारतीय ही रहेंगे। इस लिए, पारलौकिक उपासना आदि मे भेद रखते हुए भी वे सब संस्कृति से एक है। मुसलमान हो जाने से कोई अरवी या ईरानी नहीं हो जाता। इस चीज को न समझने के कारण ही राष्ट्र मे अनेक वार संकट आया है और लाखो निरपराध मारे गये है, स्त्रियो की वे-इज्जती हुई है और नन्हे वच्चे कत्ल किये गये है। राष्ट्र का विभाजन इसी कारण हुआ। अन्यथा, कोई झगडा न था। सम्प्रदाय-भेद से राष्ट्र-विप्लव नहीं हुआ, संस्कृति-भेद से हुआ है। सम्प्रदाय तो हम मे वैदिक, अवैदिक, आस्तिक, नास्तिक, जैन, वौद्ध, आर्यसमाजी, सनातनी आदि न जाने कितने हैं। इन में से फिर एक-एक के अनन्त भेद है। परन्तु संस्कृति सब की एक है, भारतीय। इसी लिए कोई राष्ट्रीयता मे भेद नहीं; जातीयता में अन्तर नहीं। जिन लोगों ने इस्लाम के नाम पर यहाँ अरब तथा ईरान आदि देशों की संस्कृति चलानी चाही, उन्होंने भेद-भित्ति खड़ी कर दी। हिन्दुस्तान कभी भी अरब या ईरान नहीं वन सकता। पाकिस्तान वन जाने पर भी पश्चिमी पंजाव पंजाव ही है। वहाँ जन-भाषा पंजावी ही है, अरवी या फारसी नहीं। वहाँ के रीति-रिवाज भी अपने हैं। पंजावी भाषा पर अब भी संस्कृत का प्रभाव है। हम लोग तो

गाली देते समय किसी को 'गधे का बच्चा' ही कहते हैं, पर पश्चिमी पँजाब का मुसलमान ऐसी जगह भी संस्कृत नहीं छोड़ता। वह कहता है—'खोते दा पुत्तर'। यह 'पुत्तर' तो पंजाबी मुसलमान छोड़ नहीं सकता, क्योंकि मातृ-भाषा गढ़ी नहीं जाती, परम्परा से आती है। पूर्वी बंगाल पाकिस्तान में है, पर वहाँ जन-भाषा बंगला है, जिसमें आधे से अधिक शब्द संस्कृत के है। फारसी-अरबी शब्दों का उच्चारण उन के लिए आफत है! उनकी लिपि भी भारतीय है, जो नागरी लिपि का ही रूपान्तर है। इसी तरह सिन्धी मुसलमान की अपनी संस्कृति है। परन्तु अदूरदर्शी जनों ने कुछ विशेष (ऊपरी) बातों को ले कर संस्कृति-भेद खड़ा कर दिया। इस सजल-सरस राष्ट्र को रेगिस्तान बनाना चाहा! अरब मे पेड-पौधे बहुत कम होते है; इस लिए ईंधन की वैसी बहुतायत नहीं कि मुर्दे जलाये जा सकें। वहाँ मुर्दे गाड़े जाते है। इस देश के मुसलमानों ने भी मुर्दों को गाड़ना शुरू किया, क्योंकि अरब में ऐसा होता है! यदि कुरान शरीफ में मुर्दों के गाडने की विधि है और देश-काल के अनुसार उस में हेर-फेर करने की भी छूट नहीं है, तो हम मान लेते है कि अच्छा भाई, गाड़ो। परन्तु वेश-भूषा और रहन-सहन में भी अन्तर? यह क्यों?

इस देश के ईसाई और पारसी आदि भी अपनी-अपनी विशेषता रखते है। परन्तु भारतीयता उन्होंने छोड़ नहीं दी है। अभी सन् १९४७ के दिसम्बर मे बम्बई मे अ० भा० हिन्दी

साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन था। मैं भी गया था। पं० गोविन्दवल्लभ पन्त ने उद्घाटन किया था और श्री राहुल साकृत्यायन सभापति थे। हम सब लोग मंच पर बैठे थे। उसी समय एक वृद्ध महिला सामने बैठी महिलाओं में से उठीं और सीधी मंच पर चढ़ आयी। उस के केश एकदम श्वेत थे। और वह केसरिया साडी पहने थी। हाथ मे उसके दो नारियल थे। उसने मंच पर आ कर, पन्तजी को प्रणाम किया, दोनो हाथ जोड कर, सिर नीचा करके। और, उन्हें एक नारियल तथा एक अशर्फी भेंट की। इसी तरह राहुलजी को प्रणाम करके एक नारियल और एक अशर्फी भेंट की। फिर पीछे लौट गयी और अपनी जगह जा बैठी। मालूम हुआ कि वह एक उच्च घराने की पारसी महिला है और बम्बई मे जब भी कोई राष्ट्रीय महोत्सव होता है, इसी प्रकार यह अपनी श्रद्धा प्रकट करती है। मैं ने सोचा, यदि भारतीय मुसलमानों मे भी ऐसी ही भारतीयता होती, भारतीय संस्कृति की ऐसी ही छाप होती, तो क्या कहना था! वे हमे नारियल खाने के लिए दे सकते हैं, हमारा सम्मान भी करेंगे, पर नारियल भेंट कर के कभी भी सम्मान प्रकट न करेंगे। कारण, यह एक भारतीय ढँग है सम्मान प्रकट करने का! वे देखेंगे कि अरब या ईरान मे कैसे सम्मान प्रकट किया जाता है। उसी तरह वे हमारा सम्मान करेंगे। कितना अन्तर? यही अन्तर राष्ट्र-भेद का कारण हुआ।

हम किसी भी सम्प्रदाय के हों, सब भारतीय है। भारतीय

संस्कृति की उपासना हमारा धर्म है। संस्कृति हमारा जीवन है। हम इसे छोड़ नहीं सकते; हम से यह छूट नहीं सकती। जो लोग किसी प्रदेश में अरब या ईरान की संस्कृति लाना चाहते हैं, वे अपने प्रयास में कभी भी सफल नहीं हो सकते। देश-भेद से संस्कृति-भेद होता है। भारत का कोई भी प्रदेश अरब कैसे बन सकता है?

सो, एक राष्ट्र में अनेक संस्कृतियों की बात करना अज्ञान है, अधर्म है, क्योंकि इससे जनता में मतिभ्रम पैदा होता है। अपनी संस्कृति की अखण्ड धारा के प्रति हमारे मन में सम्मान होना चाहिए। इसके संरक्षण के लिए उपाय चाहिए। एक राष्ट्र, एक जाति, एक संस्कृति, फिर सम्प्रदाय और मत-मतान्तर चाहे जितने हों। इस तत्त्व को भली-भाँति समझ लेना चाहिए।

हमें हर्ष है, राजर्षि श्री पुरुषोत्तम दास जी टंडन ने 'एक-संस्कृतिवाद' का झण्डा ऊँचा किया है और 'राष्ट्रीय' नेताओं के उस भ्रम का निराकरण कर रहे हैं, जिसके कारण वे हिन्दू-संस्कृति और मुस्लिम संस्कृति का राग अलापते आये हैं और जिसके परिणाम-स्वरूप राष्ट्र बहुत कुछ छिन्न-भिन्न हुआ।

वर्ण-व्यवस्था

भारतीय आर्यों ने अति प्राचीन काल में समाज के सुसंचालन के लिए वर्ण-व्यवस्था की उद्भावना की थी। संसार

में अपने ढंग की यह अद्वितीय समाज-व्यवस्था थी, जो यथापूर्व त्याग पर अवलम्बित थी। वर्ण-व्यवस्था का ही यह प्रताप है कि आज तक हमारी संस्कृति सुस्थिर है, जब कि अनेक राष्ट्रों की संस्कृतियां न जाने कहां बिला गयीं। इस विषय को अच्छी तरह समझिए।

ससार में समाज का संचालन मस्तिष्क से होता है। परन्तु मस्तिष्क चाहता भी घी-दूध है। 'मन्त्रि-मण्डल' राज्य करता है, सम्पूर्ण राष्ट्र पर। दिमाग का खेल है। सबको रास्ता बतलाता है। राष्ट्र उन्हें—मन्त्रि-मण्डल के सदस्यों को—अच्छी तरह रखता है। उन्हें बडे-बड़े वेतन देता है, रहने के लिए महल देता है, बढ़िया मोटर देता है, और जीवन की सब सामग्री प्रस्तुत करता है। 'राष्ट्र की रक्षा जो तलवार से करते हैं, वे भी मन्त्रिमण्डल के नीचे काम करते है। शेष प्रजा में व्यापारी, किसान और कारीगर-मजदूर हैं, जो बहुत कुछ होने पर भी कुछ वैसे गिने नहीं जाते, उन दिमागी तथा फौजी ताकत वालों के सामने। सर्वत्र दिमागी शक्ति ऊपर रहती है।

इस देश मे, पूर्व काल मे, जो दिमागी शक्ति में सर्वोपरि थे, उन्होंने अपूर्व त्याग का परिचय दिया। वे सम्पूर्ण समाज का संचालन करते रहे, पर राज्य करना दूसरों को सौंपा। वास्तिविक राज्य तो वे करते थे—सम्पूर्ण समाज का संचालन करते थे—परन्तु उसका फल दूसरों को देते थे, 'राजा' दूसरे थे। राजा महलों मे रहते थे और मजे करते थे। वे बुद्धिधन तपस्वी राज-

काज से प्रत्यक्षतः अलग रहते थे और गरीबी का जीवन बिताते थे। वे राजाओं के आश्रित न थे। जनता यदि कुछ दे देती थी, तो उसे पेट मे डाल लेते थे; अन्यथा खेतों से दाने बीन लाते थे, जो नाज काट लेने के बाद वहाँ पड़े रह जाते थे। जङ्गल से घास-पात नोच लाते थे और नमक न मिले, तो वैसा ही वह सब उबाल कर खा लेते थे। फिर भी बड़े सन्तुष्ट रह कर समाज की सेवा करते थे। ऐसे ही लोगों के लिए कहा है—

आठ गाँठ कौपीन मे, अरु भाजी बिनु लौन।
'तुलसी' जो सन्तोष है, इन्द्र बापुरो कौन?

इन्द्र के सिंहासन को भी वे तुच्छ समझते थे, मामूली राज-पाट की तो बात ही क्या। इन तपस्वी जनों ने दिमाग का दूसरा सुख-साधन व्यापार भी एक वर्ग को सौंप दिया—लो, तुम लोग व्यापार-व्यवसाय करो। इस तरह यह वर्ग भी मालामाल होकर मजे करने लगा। शेष जनों को लुहार, बढ़ई, कुम्हार तथा चर्मकार आदि की कारीगरी सौंपी गयी। उस समय आज-कल की तरह कला-कौशल की उन्नति नहीं थी; इसलिए इस वर्ग को वैसा महत्त्व नहीं मिला। महत्त्व तो आज भी बेचारे कारीगरों को नहीं मिल रहा है। कारखानेदार (वे व्यवसायी-व्यापारी) ही सब महत्त्व तथा सुफल ले रहे हैं। इन बेचारों को तो रूखी-सूखी रोटी मिल जाती है!

कहने का मतलब इतना कि भारतीय आर्यों मे एक वर्ग

ऐसा सामने आया जो बुद्धि का धनी था, तेजस्वी था, और समाज-संचालन मे पूर्ण शक्तिमान् था, फिर सोने मे सुगन्ध यह कि उस में सासारिक सुख-भोग की तृष्णा का नितान्त अभाव था। उसने एक वर्ग को राज्य करने का सुख दिया, एक को 'व्यापारी वसति लक्ष्मी:' कह कर व्यापार सौंपा और एक वर्ग को साधारण कला-कौशल या समाज-सेवा के दूसरे कामों में लगाया। अपने लिए काम सम्पूर्ण समाज की सेवा, उसका सर्वाङ्ग-संचालन और उसके बदले गरीबी का जीवन। नि.सन्देह घर को ऐसा ही, योग्य पुरुष सुख-समृद्धि से भर-पूर कर सकता है, जिस मे वैसी पटुता हो कि योग्यता तथा शक्ति के अनुसार सब को काम बाँट कर उनसे सब काम ठीक-ठीक कराता रहे, उन्हें निर्देश देता रहे और उन सब की सुख-सुविधा का पूरा प्रबन्ध रखे। उस मुखिया मे त्याग चाहिए। घर के सब लोग सुख से रहें और परस्पर प्रेम बढ़े, इसी मे वह अपना सुख समझे। सबको बढिया वस्त्र-आभूषण पहना कर वह स्वयं मोटा-माड़ा कपडा पहन कर निर्वाह करे, जरूरत पडने पर फटा-पुराना भी। ऐसी दशा मे उसका सम्मान बढ़ेगा ही, घटेगा नहीं। घर के सब लोग उसको सिर-माथे लेंगे, बाहर भी सम्मान मिलेगा। उसके लिए यह आध्यात्मिक सुख ही सर्वोपरि है। ऐसे घर में समृद्धि बरसेगी, इसमे सन्देह नहीं।

समूचे समाज में भी यदि ऐसे त्यागी संचालक हों, तो क्या कहना। सम्भव है, किसी देश में कोई एकाध वैसा त्यागी-मेधावी

समाज-संचालक मिल जाय। परन्तु कोटि-कोटि जनता के लिए एकाध त्यागी के जीवन से क्या वनेगा! एक भारत ही ऐसा देश है, जहाँ एक वहुत वड़े मेधावी वर्ग ने वैसे त्याग का आदर्श उपस्थित किया। इस वर्ग को 'ब्राह्मण' कहा गया। 'ब्रह्म' कहते है ज्ञान को और भगवान् का नाम भी 'ब्रह्म' है। जो ज्ञान-प्रधान होकर भगवान् की उपासना के रूप मे जनता की नि.स्वार्थ सेवा करते थे, वे 'ब्राह्मण' कहलाये। 'ब्रह्म' का शाब्दिक अर्थ है—वडे से वडा। जिसने वड़े से वडे समाज को अपना परिवार समझा, भगवान् का विराट् रूप समझ कर उसकी सेवा की, वह ब्राह्मण। अपने ज्ञान, शक्ति तथा त्याग के कारण ब्राह्मण सर्वशक्तिसम्पन्न था, पर उसने भौतिक आधिपत्य स्वीकार न किया। इसीलिए वड़े-वड़े सम्राट् भी उसके चरणों पर सिर रखते थे। उसी परम्परा मे आर्य चाणक्य दिखायी देते है, जो वडे से वड़े साम्राज्यों के वनाने-विगाडने की अद्भुत शक्ति रखते थे। चन्द्रगुप्त को सम्राट् वना कर उसी के द्वारा सब काम कराया। वस्तुत. सव काम स्वयं करके श्रेय दूसरे को दिया और सुख-भोग से दूर रह कर साधारण जीवन बिताया। सम्राट् चन्द्रगुप्त महलों मे रहकर आनन्द लेते थे और चाणक्य अपनी फूस की झोपडी मे कुशों के आसन पर वैठ कर सुशासन की बात सोचते थे। तभी वैसा साम्राज्य प्रतिष्ठित हो सका। यही सम्वन्ध समर्थ गुरु रामदास और छत्रपति शिवाजी में रहा। शिवाजी के स्वराज-स्थापन में कितना ब्राह्म

बल लगा और कितना क्षात्र बल, इसके लिए यद्यपि कोई तुला नहीं है, पर समर्थ का और छत्रपति का जीवन-वृत्त पढ़ने से सब सामने आ जाता है।

मुसलमानी शासन काल तक ब्राह्मण अपने कर्तव्य पर डटे रहे। किसी त्यागी का लड़का भी त्यागी ही हो, ऐसी बात नहीं। परन्तु कोटि-कोटि ब्राह्मणजनों ने अपने पूर्वजों की त्याग और तपस्या की परम्परा अपनायी। अपनी बुद्धि तथा शक्ति के अनुसार विरुद्ध परिस्थितियों मे भी अनन्त काल तक उन्होंने समाज की सेवा की। हमारा अनन्त समृद्ध संस्कृत-साहित्य उन्हींकी प्रतिभा तथा त्यागमय जीवन का फल है, जिससे हमारा सिर ऊँचा है और संसार की दृष्टि मे हम अब भी गर्व प्रकट करते हैं। हिन्दी-साहित्य को ही देखिए, इस वर्ग का महत्त्व सामने आयेगा। अंग्रेजी राज्य से जब हम लड रहे थे और सत्याग्रह चल रहा था, तो प्रत्येक आन्दोलन मे जितने वीर त्यागी जेल गये, उनमे पचपन प्रतिशत संख्या ब्राह्मणों की थी, शेष मे और सब। त्याग मे ही नहीं, विद्या में भी वे किसी से, इस समय भी, पीछे नहीं है। संस्कृत भाषा को तो ब्राह्मणों ने ही जीवित रखा, नहीं तो यह एक इतिहास की चीज बन जाती। नागरी लिपि की रक्षा भी इन्हींके सहारे हुई। अब तो जागरण है, सबको अपनी भाषा तथा संस्कृति का अभिमान हो चला है। यह सौभाग्य कभी प्राप्त न होता, यदि उस भयङ्कर काल में चने चबा-चबा कर ये लोग वेदों की, संस्कृति की तथा अपनी लिपि

की रक्षा न करते। सब व्यापार-व्यवसाय में या उर्दू-फारसी पढ़ कर मुसलमान शासकों के दफ्तरों में लगे थे। साधारण जनता तो चेतना-शून्य होती ही है।

परन्तु मुसलमानी शासन-काल में ब्राह्मण ढीले पड़ गये। विदेशी संस्कृति का एक प्रवाह आया। हमारी वर्ण-व्यवस्था को धक्का लगा। लोग ब्राह्मणों के उस संस्कृति-रक्षण के महत्त्वपूर्ण काम को अवज्ञा की दृष्टि से देखने लगे। इनका सम्मान जाता रहा। 'पण्डितजी' और 'मुन्शीजी' में सम्मान का अन्तर बहुत ज्यादा पड गया। 'पण्डितजी' शब्द में ही वह बात भर गयी। लोगों ने मानना छोड़ दिया। बाल-बच्चे भूखों मरने लगे। तब अंग्रेजी राज्य आने पर, ब्राह्मण भी नौकरी-चाकरी की ओर बढ़े। और क्या करते? जमीन तो थी नहीं कि खेती करते। व्यापार के लिए पैसा न था। व्यापार-बुद्धि एक दिन मे आ भी नहीं जाती है। फलतः अंग्रेजी सरकार की नौकरी मे ये भी गये। बुद्धि थी ही। बड़े-बड़े पदों पर पहुंचे। आज भी बड़े-बड़े विश्वविद्यालयों के ये सञ्चालक हैं। कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर जैसे महर्षि इस युग मे भी ब्राह्मणों ने पैदा किये है। राजनीति के नेताओं में भी सबसे अधिक संख्या ब्राह्मणों की ही है। यह बुद्धि का खेल है, जिसमे त्याग की परम्परा का पुट है।

यह सब है, पर हमें मानना पड़ेगा कि ब्राह्मण मे जो बात उस समय थी, अब नहीं है। कारण चाहे जो समझ ले। अब तो नाम भर है। वर्ण-व्यवस्था अपने असली रूप मे छिन्न-

भिन्न हो चुकी है। आगे राष्ट्र कैसी समाज-व्यवस्था अपनायेगा, नहीं कहा जा सकता। परन्तु एक त्याग-मूलक परम्परा को उतना बड़ा बुद्धिशाली वर्ग हजारों-लाखों वर्ष तक चलाता रहा, यह कम आश्चर्य की बात नहीं है। इतने दिन वह त्याग की परम्परा चली, यही बहुत है। इस परम्परा के कारण जो आज भी गरीबी समेटे हुए समाज मे परिस्थिति के अनुसार कुछ बदल कर काम कर रहे है, वे गर्व कर सकते है। गर्व इस बात का कि उनको गरीबी उस त्यागमय समाज-सेवा का फल है, जो उनके पुरखों ने की। अन्यथा, परम्परा प्राप्त-धन या भू-भाग के स्वामी ये भी होते। किन्तु समाज सदा ही अतुल धन या भू-भाग किसी वर्ग के पास रहने नहीं देता। उसमें परिवर्तन हो रहा है। इस लिए, अपनी परम्परा-प्राप्त गरीबी के उत्कर्ष पर गर्व ही प्रकट करना चाहिए। साथ ही, समाज के साथ मिल कर आगे बढ़ना चाहिए। ब्राह्मण सदा वह काम करता रहा है, जो समाज के लिए जरूरी उसने समझा। जब एक समय ऐसा आया कि क्षत्रियों की तलवारों ने म्यान से बाहर झाँकना कुछ कम कर दिया, तब ब्राह्मण ने शत्रु के विरुद्ध तलवार चमकायी और रण में पेशवाई की। दक्षिण के पेशवा सुप्रसिद्ध हैं। सन् १८५७ के स्वातन्त्र्य-युद्ध मे महारानी लक्ष्मीबाई ने जो रण-रंग प्रकट किया, जग-जाहिर है। लक्ष्मीबाई ब्राह्मण-कन्या और ब्राह्मण-वधू थीं, जिन्होंने क्षत्रिय मर्दों के सामने आदर्श उपस्थित किया। इसी तरह क्षत्रियों और वश्यों में भी ऐसे महापुरुष हुए

है, जिन्होंने ब्राह्मणत्व का आदर्श उपस्थित किया—जनता का पथ-निर्देश किया। महात्मा गौतम बुद्ध और महात्मा गान्धी प्रत्यक्ष उदाहरण है। यही नहीं, शूद्र वर्ग ने भी ऐसे महात्मा उत्पन्न किये है, जिनका उपदेश ब्राह्मणों ने भी सिर-माथे लिया है। वैष्णवों मे ऐसे महात्माओं की बहुत बड़ी संख्या है। भक्त रैदास और भक्त नामदेव आदि के नाम विशेष रूप से लिये जा सकते है। इसका मतलब यही हुआ कि वर्ण-व्यवस्था के होते हुए भी कोई ऐसा बन्धन नहीं रहा कि एक वर्ण का व्यक्ति आवश्यकता पड़ने पर और शक्ति होने पर इतर वर्ण का काम न कर सके; या करे तो जनता उसे ग्रहण न करे। ऐसा कैसे हो सकता है! आवश्यकता पडने पर घर के सभी आदमी एक ही काम करते है, यद्यपि साधारणतः उनके काम बॅटे रहते है। मान लीजिए, घर के सब लोगों मे उनकी शक्ति के अनुसार काम बॅटे है और एक के जिम्मे घर का सब पानी भरना है। ठीक है, काम चल रहा है। किन्तु समझिए, यदि किसी समय घर मे आग लग जाय, तो? तब क्या उसी एक आदमी के भरोसे सब बैठे रहेंगे और घर जल जाने देगे? तब तो सभी घडे पकड कर पानी लेने दौड़ेंगे। हाँ, जिनमे बिलकुल शक्ति नहीं, या जो अन्य कामों में लगे है—सामान आदि निकाल कर अलग कर रहे है, उनकी बात दूसरी है। इसी तरह समय पडने पर एक दूसरे के काम किये जाते रहे है। परन्तु ये सब अपवाद की बात हैं। प्रधान धाराएँ तो वे हैं ही; या रही ही है।

क्षत्रिय वर्ग को भी देश मे महत्त्व प्राप्त था, पर ब्राह्मण के बाद। महत्त्व तो होना ही चाहिए। अपनी तलवार से देश की रक्षा करना क्या कम महत्त्व की चीज है? प्रत्येक देश मे ऐसे शूर-वीर ('मार्शल') वर्ग होते है। ये लोग राज-शासन करते थे, आनन्द लेते थे। जब कभी देश को शत्रु का भय पैदा हो, तो ये तलवार ले कर रणाङ्गण मे कूद पडते थे। गये-गुजरे जमाने में भी महाराणा प्रताप तथा छत्रपति शिवाजी महाराज-जैसे रत्न क्षत्रिय वर्ग ने दिये है। अब भी उनमे वही खून है। जाट और गूजर आदि भी क्षत्रिय वर्ग मे ही है। गुरु गोविन्दसिंह ने एक नया ही क्षत्रिय वर्ग उत्पन्न कर दिया, जो सिख नाम से प्रसिद्ध है।

प्रजा-रञ्जन क्षत्रिय अपना मुख्य काम समझते थे। 'राजा प्रकृतिरञ्जनात्'—प्रकृति (प्रजा) का रञ्जन करे, सो राजा। प्रजा खुश रहे, यही उनकी चेष्टा रहती थी। प्रजा खुश रहे, यह और बात है और प्रजा को खुश करना दूसरी। प्रजा खुश रहती है सुन्दर राज-व्यवस्था से और प्रजा को खुश करता है कोई राजा किसी कारण से। अन्यान्य धर्मों की तरह राजा के इस प्रकृतिरञ्जन का भी गलत अर्थ किया गया और राम जी की पवित्र कथा मे शम्बूक-हत्या तथा सीता-परित्याग की कहानी जोड दी गयी। बेचारा शम्बूक वन मे तप कर रहा था, तो प्रजा को क्या हानि थी? तप तो अच्छी चीज है। क्या छोटे दर्जे का आदमी कोई अच्छा काम करे, तो वह केवल इसी लिए बुरा

कहा जायगा कि वह छोटा हो कर वैसा अच्छा काम क्यों कर रहा है ? और यदि बुरा भी मान लिया जाय, तो मना कर देना चाहिए या उसे जान से ही मार देना चाहिए ? श्री रामचंद्र जी के पवित्र जीवन से इस कहानी का कोई मेल ही नहीं। एक ब्राह्मण के कहने से, उसे खुश करने के लिए, एक निर्दोष तपस्वी को जान से मार देना भी कोई 'प्रजा-रञ्जन' है ? एक प्रजा को खुश करने के लिए दूसरी निरपराध प्रजा का गला काट देना कहाँ का न्याय है ? पर जब इस तरह का प्रजा-रञ्जन धर्म समझा जाने लगा, तब राम-कथा मे कहानियाँ मिलायी जाने लगीं। सीता-परित्याग की कहानी भी ऐसी ही है। एक धोबी की बात मे आ कर सीता को बियावान जंगल मे छुड़वा देना और फिर उस विशेष दशा मे। धोबी का 'रञ्जन' और सीता का कत्ल ! एक प्रजा के कहने से, उसे खुश करने के लिए, दूसरी प्रजा के गले पर छूरी। सीता भी तो राम की प्रजा ही थीं। उनकी अग्नि-परीक्षा हो चुकी थी, वशिष्ठ आदि गुरुओं ने उनकी पवित्रता की घोषणा कर दी थी, सो सब कुछ नहीं और एक धोबी की वह बोली-ठोली सब कुछ। उसे पकड़वा कर जेल मे डालना था, जो वैसे प्रवाद-प्रचार का अपराधी था। मान लीजिए, हमारा कोई जन अपराधी ही है, पर हमने उसे ग्रहण कर लिया; तो समझा जाता है कि हमने उसके अपराध माफ कर दिये। जिसे अंगीकार कर लिया, उसका निर्वाह महापुरुष का लक्षण है—'अङ्गीकृतं सुकृतिनः परिपालयन्ति !' परन्तु

राम ने सीता के साथ धोखा किया। ऐसी दशा में क्या वे मर्य्यादापुरुषोत्तम रहते हैं ? ऐसे कानों के कच्चे शासक क्या खाक शासन करेंगे ! और सीता के निकाल देने पर भी क्या वह प्रवाद जा सकता था, जिसके लिए वह कल्पना की गयी ? ऊटपटांग कहानियाँ तब गढ़ी गयीं, जब धर्म का रूप लोग भूल गये और लकीर पीटने लगे। कह दिया—'प्रजा को खुश करने के लिए राम ने सीता तक को छोड दिया।' बेवकूफों ने यह भी नहीं समझा कि ऐसी कहानी जोड देने से राम मे देवत्व तो क्या, मनुष्यत्व भी न समझा जायगा। कोई हृदयहीन भी उस दशा मे एक अबला को ऐसे घोर वन मे न छुड़वा देगा, जहाँ भेडियो और बघेरों का राज्य हो। भूख-प्यास से तडपा कर मार डालने की अपेक्षा तो तलवार का एक झटका अच्छा था ! राम से तो 'क्रूरात् क्रूरतर' कृत्य कराया गया है, प्रजारंजन के नाम पर।

इसी तरह 'धर्म-युद्ध' की व्याख्या भी बदल दी गयी ! धर्म के लिए जो युद्ध हो 'वह धर्म-युद्ध' सीधी सी बात है, पर कहा जाने लगा कि रण मे बुद्धि-बल लगाये बिना, रण-चातुरी किये बिना, सीधे-सादे ढँग आमने-सामने जो 'भैंसा-युद्ध' हो, वही 'धर्म-युद्ध' है। थोडा भी बुद्धि का प्रयोग (छल-बल आदि) हुआ, तो अधर्म-युद्ध। इस व्याख्या ने भी बडा नाश किया ! हमारी कितनी ही शक्ति बेकार गयी।

किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि क्षत्रिय वीरों ने. और क्षत्रिय

वीराङ्गनाओं ने जो जौहर दिखाये है, उनकी समता अन्यत्र मिलना कठिन है। क्षत्रिय वीरों ने बहुत दिन तक तलवार की उपासना की। काल पा कर उसमें कुछ जंग लगी! किसी ने लोहे की जगह सोने की तलवार बनवा ली। तो भी, अभी बहुत कुछ है। हमें अपने इस वीर वर्ण पर बडा गर्व है, भरोसा भी अभी है।

वैश्य का काम था व्यापार करना, खेती करना और गो-पालन करना। खेती और गो-पालन के बाद ही व्यवसाय-वाणिज्य का नाम है—'कृषिगोरक्षवाणिज्यम्।' परन्तु कृषि तथा गो-रक्षण का काम छोड़ कर वैश्यों ने केवल व्यापार पर ही ध्यान दिया। फलतः कृपि की दशा वैसी नहीं सुधरी। दुग्ध-व्यवसाय भी जैसा दूसरे देशों मे है, हमारे यहाँ उसका सहस्राश भी नहीं। गोशाला आदि खोल कर गो-रक्षा करने में वैश्य-समाज ने करोड़ों रुपये खर्च किये, पर इससे कहीं गो-रक्षा होती है! गो-रक्षा हमारे धर्म का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। भारत का शिव (कल्याण) बैल पर है, क्योंकि यह कृषिप्रधान देश है। गोदुग्ध हमारे लिए अमृत है। गोवंश की रक्षा और वृद्धि तो दूर, यहाँ गोहत्या होने लगी। दुर्भाग्य से यहाँ ऐसे लोग आये या पैदा हुए, जो भारतीय संस्कृति तथा धर्म के विरुद्ध गो-हत्या करना ही अपना धर्म समझने लगे। 'धर्म-कृत्य' के लिए गो-हत्या आवश्यक उन लोगों ने समझा। फूट डालने के लिए विदेशी शासकों ने और भी भड़काया। इस तरह अनन्त

गौ-हत्या हो गयी। अब हमारी राष्ट्रीय सरकार का कर्तव्य है कि एक कानून बना कर इस राष्ट्रीय अपराध की समाप्ति सदा के लिए कर दे।

वैश्य-समाज ने धन से समाज का उपकार किया है। जगह-जगह धर्मशालाएं प्रायः उन्हीं की बनवायी हुई हैं। संस्कृत की पाठशालाएँ स्थान-स्थान पर धनी वैश्यों ने खोलीं, जहाँ छात्रों के भोजन आदि की भी व्यवस्था की। वहाँ पढ़-पढ कर न जाने कितने संस्कृत के विद्वान् तैयार हुए। इसी तरह अन्यान्य समाजहितकर काम वैश्य-समाज ने किये है। उन्होंने अपने अध्यवसाय से अनन्त लक्ष्मी पैदा की। न जाने कितने करोड़-पति वैश्य-समाज मे हैं। उनके पास जो धन है, समाज का है। किसी भी रूप में वह समाज के ही काम आयेगा। समाज-व्यवस्था आवश्यकतानुसार बदलती रहती है, बदलेगी, पर इससे उन लोगों पर अधिक्षेप कैसे, जिन्होंने पुरानी व्यवस्था के अनुसार काम करके उत्कर्ष प्राप्त किया है ?

शूद्रवर्ग के भी दिन अब अच्छे आ रहे हैं। बडे ही धैर्य से इन बेचारों ने अपना-अपना काम किया और हिन्दू धर्म मे भावना दृढ़ रखी। इससे जाति को बल मिला है। अनेक बार भागवत धर्म, वैष्णव धर्म तथा आर्य-समाज आदि धार्मिक संस्थानों ने नीचे गिराये हुए इस वर्ग को ऊपर लाने के प्रयत्न किये। देश-काल के अनुसार कुछ सफलता भी मिली। परन्तु अब देश स्वतन्त्र हो जाने से अधिक प्रगति होगी।

धर्म में छुआछूत का स्थान है, पर किस तरह ? जिसने शराब पी रखी हो, उसे मत छुओ, उसके साथ मत खाओ, उसे मन्दिर में न जाने दो। जो व्यभिचारी और दुराचारी है, उससे संसग मत रखो, उसके हाथ का मत खाओ, उसे मन्दिर में मत जाने दो। और, जो अपवित्र दशा मे हो, जिसके कपड़ों से और शरीर से बदबू आ रही हो, उसके पास मत बठो और उसे मन्दिर आदि मे, सबके वीच मे, मत जाने दो। इसी तरह संक्रामक रोग के रोगियों के हाथ का मत खाओ, उनके पास मत बैठो, उन्हें मत छुओ। यही छुआछूत का असली मतलब है। बेचारे चमार और भङ्गी यदि भगवान् के दर्शन कर लेंगे तो क्या भगवान् अपवित्र हो जायँगे ? पर हाँ, मन्दिर-प्रवेश आदि के लिए सत्याग्रह आदि करना ठीक नहीं है। यह तो अपने समाज मे गडबड़ फैलाना है। जो ऐसी प्रेरणा दे, उनसे सावधान रहो। वे हरिजन-सेवा का सस्ता सार्टिफिकेट ले कर घाते में तुम से—हरिजनों से—किसी जगह वोट लेने की चिन्ता में होंगे! 'धीरे पके सो मीठा होय।' परन्तु सामाजिक अधिकार के लिए अवश्य झगड़ना चाहिए। जिस घाट पर दूसरे लोग स्नान करते है, ये क्यों न करें ? सरकारी नौकरी आदि मे समानता आ ही गयी है।

शान्तिपाठ

सर्वे भवन्तु सुखिन,

सर्वे सन्तु निरामया:।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु,

मा कश्चिद् दु:खभाग् भवेत् ।।

।। समाप्त ।।

अच्छी हिन्दी का नमूना

पर

प्राप्त कुछ सम्मतियाँ

'प्रवासी', अजमेरः—

"वाजपेयी जी ने समालोचना के रूप में जो कुछ लिखा है, वह विद्यार्थियों, लेखकों, ग्रन्थकारों और पत्रकारों के अध्ययन तथा मनन की चीज है।"

सुप्रसिद्ध विद्वान्, प्रोफेसर शिवपूजन सहाय जी:—

"वर्माजी (श्री रामचन्द्र वर्मा) की पुस्तक ('अच्छी हिन्दी') पढने वाले छात्र इसे जरूर पढ़ेंगे। पढने से उन्हें लाभ होगा, उनकी तर्क-शक्ति बढ़ेगी और भ्रम दूर होगा। व्यग्य-विनोद का भी आनन्द आता है।"

'दीदी', इलाहाबाद —

"यह पुस्तक 'अच्छी हिन्दी' के पूरक के रूप मे पढी जानी चाहिए।"

'कान्यकुब्ज', लखनऊ—

"वर्मा जी भी वाजपेयी जी की पुस्तक से लाभ उठा कर अपनी 'अच्छी हिन्दी' मे उचित परिष्कार करेंगे, इस बात की हमे पूर्ण आशा है।"

सुप्रसिद्ध विद्वान् सेठ कन्हैयालालजी पोद्दार:—

"हिन्दी के विद्यार्थी ही नहीं, विद्वान् भी इससे बहुत कुछ सीखेंगे।"

आल इण्डिया रेडियो के डिप्टी डायरेक्टर, पण्डित श्री नारायण चतुर्वेदी:—

"इससे हिन्दी के बहुत-से भाषा-तत्त्वज्ञों के वहुत से भ्रमों का निवारण हो जायगा।"

हिन्दी के सुप्रसिद्ध वैय्याकरण और अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के भूतपूर्व सभापति, पण्डित अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी:—

"ऐसी बातें लिखी गयी है, जिनका समर्थन प्रत्येक भाषा-तत्त्वज्ञ को करना ही चाहिए।"

सुप्रसिद्ध विद्वान्, डाक्टर अमरनाथ झा:—

"महत्त्वपूर्ण विषयों पर प्रकाश डाला है।"